गांधी : एक जीवनी

पहले अंग्रेजी संस्करण पर कुछ सम्मतियां

''पुस्तक को सभी भारतीय भाषाओं में लाने और विद्यालयों में बांटे जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए।''

–सी. राजगोपालाचारी

''राजनीतिज्ञ उनके (गांधी जी के) संदेश के संदेश का गुणगान करेंगे और पंडित लोग उस पर टीकाएं लिखेंगे। लेकिन वह मनुष्य जो कुछ था और जो कुछ बनना चाहता था, उसे समझना संभव है इतना आसान न हो। इस समझदारी की दृष्टि से प्रस्तुत रचना अभी तक का प्रमुखतम योगदान है।''

–दि इलस्ट्रेटेड वीकली आफ इंडिया, मुंबई

''एक छोटी-सी प्रशंसनीय जीवनी–दिखावे से दूर और फिर भी सिद्धहस्त, सुबोध, वस्तुनिष्ठ और प्रामाणिक। प्रस्तावना के पहले ही पन्ने से लेकर आखिरी अध्याय के आखिरी पन्ने तक यह छोटी-सी जीवनी बांधकर रखती है।''

–नेशनल हेराल्ड, नयी दिल्ली

''श्री कृष्ण कृपलानी ने गांधी के बारे में वही काम किया है जो उन्होंने 1961 में गुरुदेव के जन्म शताब्दी वर्ष में उनके बारे में किया था। उन्होंने एक ठोस तथ्यात्मक जीवनचरित प्रकाशित किया है...तथ्यों से भरपूर, अकसर गांधी की अपनी रचनाओं से उद्धरण देते हुए और ऊबाऊ प्रशंसा या छिद्रान्वेषी आलोचना से दूर रहकर।''

–सडे स्टेट्समैन, कलकत्ता

''गांधी वांगमय पर आ चुके या आने वाले साहित्य की मूसलाधार के बीच यह एक अपवाद है. ..कृपलानी की प्रमुख विशेषता उनके स्वर में है जो प्रतिबद्ध न होकर सभ्य है। यह पुस्तक आदि से अंत तक आनंदवर्धक है; लगभग परित्यक्त एक नेता के मोहभंग के अंतिम दिनों पर उनका विवरण बहुत ही सटीक है।''

अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता

''महात्मा गांधी के जीवन पर कृपलानी का संक्षिप्त विवरण निःसंदेह उन ऊबाऊ भावुकताओं के बीच एक अपवाद है जो हम पर लादी जा रही हैं। वे जीवनीलेखन की कुछ श्रेष्ठतम कुशलताओं को व्यवहार में लाते हैं...कृपलानी का लेखन गरिमामय और श्रेष्ठ है तथा पुस्तक में ऐसे उद्धरण हैं जो लेखक की विचारोत्तेजक शक्ति का परिचय देते हैं।''

–सडे स्टैंडर्ड, नयी दिल्ली

''जब हम श्री कृपलानी द्वारा लिखित जीवनी को पढ़ते हैं तो हमारी आंखों के सामने गांधी जी के जीवन के परिवर्तन और विकास स्पष्ट आ जाते हैं। यही कारण है कि यह रचना एक बहुत उच्च कोटि के जीवनी-साहित्य में आती है।''

–आंध्रज्योति, विजयवाड़ा

''....एक असाधारण मानव की एक अत्यंत संतोषप्रद जीवनी....''

–हिंदुस्तान स्टैंडर्ड, कलकत्ता

शंकु चौधरी द्वारा निर्मित कांसे का मूर्तिशिल्प

राष्ट्रीय जीवनचरित

गांधी : एक जीवनी

कृष्ण कृपलानी

अनुवाद

नरेश 'नदीम'

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

नंदिता
को जिन्होंने अपने जीवन में
इस रचना के लिए प्रोत्साहित
किया और मृत्यु में इसे
अवलंब दिया

आभार

गांधी जी के लेखों से लिए गए उद्धरणों हेतु
नवजीवन ट्रस्ट
एवं
छायाचित्रों के लिए
गांधी स्मारक संग्रहालय

विषय सूची

विषय-प्रवेश

भारतीय उपमहाद्वीप के लंबे और घटनाओं से भरे इतिहास में पहले किसी भी सदी में जनता के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन में इतने तीव्र परिवर्तन नहीं आए जितने उस सदी में जो गांधी जी के जन्म के साथ शुरू हुई और अब समाप्त हो चुकी है। उनके जन्म के समय तक ब्रिटिश राज्य भारत में जड़ें जमा चुका था। सन 1857 के उभार ने जिसे सिपाही विद्रोह, महाविद्रोह और प्रथम स्वाधीनता संग्राम भी कहा जाता है, एक व्यापारिक उद्यम को एक साम्राज्य में रूपांतरित मात्र किया था। यह अधीनता सिर्फ राजनीतिक न थी। बौद्धिक और सांस्कृतिक दासता भी इसे इतने कारगर ढंग से दृढ़ बनाती थी कि शिक्षित भारतीयों की नयी पीढ़ी इसके **सभ्यताकारी मिशन** को स्वीकार करने के लिए उत्सुक थी। कोई भी अधीनता इतनी स्थायी नहीं होती जितनी इच्छापूर्वक स्वीकार की गयी अधीनता होती है। कोई भी जंजीर इतनी सख्त जकड़ नहीं रखती जितनी वह जिसे प्यार से जकड़ा जाता है। यह दासता इतनी स्थायी थी और समर्पण इतना चाकराना कि लगने लगा था कि ब्रिटिश साम्राज्य एक ईश्वरीय देन है और भारत में अब बना ही रहेगा।

जब गांधी जी की मृत्यु हुई तो भारत ने उसका मातम एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में किया। वंचित लोगों को अपनी खोई हुई विरासत और गूंगों को आवाज मिल चुकी थी। भय के सागर में डूबे हुए लोग अब सिर उठाकर चल सकते थे। निहत्थों ने ऐसा हथियार पा लिया था जिसके आगे ब्रिटिश संगीनें भी असहाय थीं। यह दुनिया के शस्त्रागार में एक अनोखा हथियार था। किसी को मारे बिना भी यह विजय प्राप्त करने में सफल रहा।

इस चमत्कार की कहानी गांधी जी के जीवन की कहानी भी है। कारण कि इस ऐतिहासिक संवृत्ति की रूपरेखा बनाने और इसे साकार करने में उन्होंने किसी भी अन्य व्यक्ति से बड़ी भूमिका निभाई। अगर उनके कृतज्ञ राष्ट्रवासियों ने उनको राष्ट्रपिता कहा तो यह अकारण नहीं था।

फिर भी यह दावा करना अतिश्योक्तिपूर्ण होगा कि यह रूपांतरण अकेले गांधी जी के कारण आया। कोई व्यक्ति चाहे कितना ही प्रतिभासंपन्न क्यों न हो, अकेले एक ऐतिहासिक प्रक्रिया का निर्माता होने का दावा नहीं कर सकता। उनके

अनेक उल्लेखनीय पूर्वजों और वरिष्ठ समकालीनों ने भाले-गंडासे और तलवारें लेकर वह जंगल साफ करने की कोशिश की थी जिसमें भय, अंधविश्वास और निष्क्रियता की जहरीली घासें उग आई थीं। उन्होंने वह जमीन तैयार करने में सहायता की थी जिसे गांधी जी की प्रतिभा ने एक विशाल कुरुक्षेत्र बना दिया—ऐसा कुरुक्षेत्र जिससे गुजरकर उनके देशवासियों ने स्वतंत्रता की ओर महाप्रयाण किया। अगर वे सौ-एक साल पहले पैदा हुए होते तो शायद ही वह होते जो वे बने। न ही गांधी जी के नेतृत्व के बिना भारत को उस प्रकार अपना भविष्य मिला होता जिस प्रकार अंततः मिला—इतने शानदार तरीके से जिसने उसे स्वतंत्रता भी दिलाई और गरिमा भी। यह इतना अजीबो-गरीब तरीका था कि लोग आज हैरान हैं कि क्या इस प्रयोग को दोबारा दुहराया जा सकता है।

गांधी जी ने अपनी जनता के लिए जीवन बिताया, कष्ट झेले और मृत्यु को प्राप्त हुए। फिर भी उनके जीवन का महत्व केवल उनके देश के संदर्भ में नहीं है। न ही यह जीवन एक ऐसे देशभक्त और क्रांतिकारी रूपांतरकार के रूप में है जिसमें आनेवाली पीढ़ियां उनको याद करेंगी। गांधी जी और चाहे कुछ भी रहे हों, मूलतया वे एक नैतिक बल थे, मानव की अंतर्रात्मा के लिए, जिसका आकर्षण सार्वभौम भी है और स्थायी भी। अगर उन्होंने मुख्य रूप से अपने देशवासियों की सेवा की तो इसलिए कि वे उन्हीं के बीच पैदा हुए थे और उन्हीं की तकलीफों और अपमानों ने उनकी नैतिक संवेदना और उनके राजनीतिक अभियान के लिए आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान किए। इस प्रकार उनके जीवन की कथा सबके लिए पठनीय है।

अगर गांधी जी की महानता पूरी तरह अपने देश के लिए उनके उत्कट प्रेम पर और एक सफल राजनीतिक संघर्ष में उनके नेतृत्व पर आधारित होती तो यह राष्ट्रपिता के रूप में उनके प्रति जनता के आभार का पर्याप्त कारण अवश्य होती। लेकिन इससे शायद ही इस तथ्य की व्याख्या हो पाती कि बाकी दुनिया भी क्यों उनकी स्मृतियों का सम्मान करती है और उनके शब्दों से प्रोत्साहन पाना चाहती है। आज दुनिया में राष्ट्रपिताओं की कमी नहीं है और उनमें कुछ तो ऐसे हैं कि उनके बिना भी दुनिया का काम चल सकता था। लेकिन धोती का एक टुकड़ा कमर पर लपेटे यह दुबला-पतला और काला व्यक्ति अपने देश का राष्ट्रपिता ही नहीं, और भी बहुत कुछ था।

उनकी उपलब्धियां अनेक थीं। हरेक उपलब्धि को पाने के ढंग या उसके परिणाम के आधार पर जांचें तो वह दुनिया में कहीं भी उनके नाम को सम्मान दिलाने के लिए काफी थीं। उन्होंने मानवजाति के पांचवें हिस्से को विदेशी शासन से मुक्ति दिलाई। और भारत की स्वतंत्रता एक प्रकार से दक्षिण-पूर्व एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों की स्वतंत्रता की अग्रदूत थी।

जिन लोगों को कभी 'अछूत' कहा जाता था उनके लिए गांधी जी ने जो कुछ किया, वह भी कुछ कम महत्व का अधिकारी नहीं है। उन्होंने उनके जातिगत उत्पीड़न और सामाजिक हीनता के सदियों पुराने बंधनों को तोड़ा। उन्होंने जोर देकर कहा कि स्वाधीनता का मापदंड उन करोड़ों लोगों का सामाजिक, नैतिक और आर्थिक उत्थान है जो गावों में बसते हैं और यही यह साधन है जिसे उन्होंने इस स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए विकसित किया। इस प्रकार उन्होंने जीवन का एक ऐसा रास्ता दिखाया जो एक दिन एक निरंकुश और एक धनलोलुप समाज, दोनों के लिए विकल्प बन सकता है।

उनकी मौत भी अपने-आपमें एक उपलब्धि थी। कारण कि उनकी शहादत ने उनके देशवासियों को शर्म दिलाकर नफरत और आपसी मारकाट के पागलपन से उबारा। उसने भारतीय संघ को इस योग्य बताया कि वह नवोदित राजसत्ता के धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक चरित्र को बल पहुंचा सके।

लेकिन कोई मानवीय उपलब्धि चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो, वह हमेशा स्थायी नहीं रह सकती। न ही वह एक परिवर्तनशील जगत में स्थिर रह सकती है। जो कुछ गांधी जी की उपलब्धि रही वह छिन्न-भिन्न हो सकती है, पथ से विमुख हो सकती है, या हो सकता है कि वह केवल एक याद बनकर रह जाए। लेकिन गांधी जी अमर रहेंगे क्योंकि वे अपनी उपलब्धियों से कहीं बड़े थे। वे सत्य और नैतिक पूर्णता की शाश्वत खोज में रत सार्वभौम मानव के साकार रूप थे। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा था, "मेरी रुचि अपने देशवासियों के कष्टों का निवारण करने से अधिक मानव-स्वभाव को पाशविक बनने से रोकने में है...अगर हम सभी एक ही ईश्वर की संतान हैं और हम सबमें एक ही ईश्वरीय तत्व पाया जाता है तो हमें हर व्यक्ति के पापों का भागी बनना होगा चाहे वह हममें से हो या किसी और नस्ल का हो।"

सन 1938 में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा था, "अन्य जनगणों की तरह भारत में भी ऐसे देशभक्त हैं जिन्होंने गांधी जी जितना ही बलिदान किया है, और कुछ को तो उनसे भी भयानक कष्ट झेलने पड़े हैं; ठीक उसी तरह जैसे धर्म के क्षेत्र में भी इस देश में ऐसे संन्यासी हैं जिनकी तपस्या के आगे गांधी जी का जीवन अपेक्षाकृत अधिक सुखमय है। लेकिन वे देशभक्त मात्र हैं और इससे अधिक कुछ नहीं हैं; और ये संन्यासी भी मात्र आध्यात्मिक खिलाड़ी हैं जो अपने सदाचारों के ही कारण मनुष्य की सीमाओं में बंधे हैं; जबकि यह मनुष्य अपने महान सदाचारों से भी महानतर दिखाई देता है।"

गांधी जी ने किसी संप्रदाय की स्थापना नहीं की। हालांकि वे आस्था का जीवन जीते रहे मगर उन्होंने अपने पीछे कोई ऐसा पंथ नहीं छोड़ा जिसे लेकर उनके भक्त झगड़ते रहें। वे जिस धर्म में पैदा हुए थे उसके प्रति (अपने खुद के अंग

से) अत्यंत समर्पित और आस्थावान रहे। मगर उन्होंने निर्भयता के साथ और समझौताविहीन ढंग से हर उस मत या कर्मकांड को त्यागा जो उन्हें उनकी धारणा की सार्वभौम नैतिकता और दयाभाव के नियम का निषेध करता दिखाई देता था। बहुत पहले, सन 1909 में ही उनके ईसाई दोस्त जोसेफ डोक ने उनके बारे में लिखा था, "कोई भी धर्मव्यवस्था उनको पूरी तरह बांधकर रख सकती है, मुझे इसमें संदेह है। उनके विचार ईसाई धर्म के इतने करीब हैं कि वे पूरी तरह हिंदू नहीं हो सकते, और हिंदुत्व के रंग में इतने रंगे हुए हैं कि ईसाई नहीं कहे जा सकते जबकि उनकी हमदर्दियां इतनी व्यापक और सहिष्णुतापूर्ण हैं कि कोई यह भी सोच सकता है कि वे ऐसे बिंदु तक पहुंच चुके हैं जहां पंथों के सूत्र उनके लिए अर्थहीन हो गए हैं।"

सत्ताइस साल बाद जब उनके कुछ सहयोगियों ने उनके आदर्शों के प्रचार के लिए एक संगठन बनाया तो उन्होंने उनको चेतावनी दी, "गांधीवाद जैसी कोई वस्तु नहीं है, और मैं अपने पीछे कोई पंथ छोड़कर नहीं जाना चाहता। मैं किसी नए सिद्धांत या मत के प्रतिपादन का दावा नहीं करता। मैंने तो केवल अपने ढंग से हमारे दैनिक जीवन और समस्याओं पर शाश्वत सत्य के व्यवहार का प्रयास किया है...जो मत मैंने बनाए हैं और जो निष्कर्ष मैंने निकाले हैं वे किसी भी प्रकार अंतिम सत्य नहीं हैं। अगर मुझे कल कोई बेहतर मत या निष्कर्ष मिल जाए तो मैं उनको बदल भी सकता हूं। दुनिया को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ भी नया नहीं है। सत्य और अहिंसा उतने ही प्राचीन हैं जितनी पहाड़ियां हैं। मैंने तो केवल यही प्रयास किया है कि जितने बड़े पैमाने पर और जितने अच्छे ढंग से संभव हो, दोनों के प्रयोग करूं। ऐसा करते हुए मैंने कभी कभी गलतियां की हैं और अपनी गलतियों से सीखा है...

"ख़ैर मेरा अपना दर्शन, अगर उसे दर्शन जैसे दिखावे भरे नाम से पुकारा जा सके तो, उसमें है जो कुछ मैंने अभी अभी कहा है। आप इसे गांधीवाद न कहें क्योंकि इसमें वाद जैसी कोई बात नहीं है। और इसकी व्याख्या के लिए किसी लंबे-चौड़े साहित्य या प्रचार की आवश्यकता नहीं है। मेरी मान्यताओं के खिलाफ धर्मग्रंथों के उद्धरण दिए गए हैं, लेकिन इससे मेरा विश्वास पहले से भी अधिक पुष्ट हुआ है कि किसी भी अन्य वस्तु के बदले सत्य का बलिदान नहीं किया जाना चाहिए। जो लोग मेरी बतलाई साधारण सच्चाइयों में विश्वास रखते हैं वे उसका प्रचार केवल उनके अनुसार जीवन बिताकर कर सकते हैं।"

गांधी जी ने सत्य को छोड़ ईश्वर का कोई और लक्षण नहीं बतलाया, और उसको पाने के लिए कोई कर्मकांड नहीं सुझाया सिवाय इसके कि ऐसे उपायों से उसकी ईमानदारी से और अनथक खोज की जाए जो किसी भी जीव को हानि नहीं पहुंचाते। इसलिए कौन है जो गांधी जी को सबको बतलाने की बजाय केवल अपना बतलाने का दावा कर सकता है ?

इससे कुछ कम सार्वभौम महत्व इस तथ्य का नहीं है कि गांधी जी जो कुछ बने उसी रूप में पैदा नहीं हुए थे, और हालांकि उन्होंने खुद को अद्वितीय बनाया मगर अपने आरंभिक जीवन में उन्होंने किसी ऐसी असाधारण शक्ति का परिचय नहीं दिया जो उनकी आयु के दूसरे लड़कों में न हो। उनके कुछ उल्लेखनीय समकालीनों के विपरीत उन्होंने किसी ऐसी कला-भावना से प्रेरणा नहीं पाई जैसी रवींद्रनाथ पर छा गई थी; वे रामकृष्ण की तरह किसी आध्यात्मिक दृष्टि से पीड़ित नहीं थे और न ही विवेकानंद की तरह किसी घोर उत्साह से संचालित थे। वे हममें से अधिकांश की तरह एक सामान्य कोटि के बालक थे, अधिकांश बालकों की अपेक्षा कम उच्छृंखल थे और ऐसी असामान्य लज्जा-भावना से ग्रस्त थे जो एक लंबे समय तक उनके जीवन की बाधा बनी रही।

वे दब्बू और संकोची थे, देखने में घरेलू किस्म के लगते थे, अध्ययन में औसत दर्जे के थे और आमतौर पर किसी भी प्रकार से विशिष्ट नहीं थे। बचपन या युवावस्था में उनके शारीरिक गठन या मानसिक क्षमता में ऐसा कुछ भी नहीं था जो उनके अंदर सोए पड़े ज्वालामुखी का संकेत दे। इस शांत सतह से कोई दबी दबी आवाज भी नहीं सुनाई देती थी, कोई चमक या धुआं उठते कभी नहीं देखा गया कि उनके व्यक्तित्व के अंदर जो सुलगती तलवार गढ़ी जा रही थी उसका कोई हल्का-सा सुराग भी मिले।

यह सब ऐसे ही था गोया प्रकृति जिस दुर्लभ शस्त्र को चुपके चुपके गढ़ रही थी और जिसे वह बुरी नजर वालों से बचाने के लिए चिंतित थी उसे उसने ऐसी म्यान में छिपा रखा था जो इतनी साधारण किस्म की थी कि किसी की नजर उस पर नहीं जाती थी। यहां तक कि खुद म्यान को उस आग का कोई सुराग नहीं था जो उसके अंदर सुलग रही थी; उस भविष्य का कोई अहसास नहीं था जो आगे आने वाला था गोया किसी शिकार पर झपटने का इंतजार कर रहा हो। देखने में मामूली लगनेवाले इस बालक में प्रतिभा की कोई चेतना नहीं थी, बल्कि उसकी कोई धुंधली सी हलचल भी नहीं दिखाई देती थी; एक घटनाविहीन बचपन की शांत सतह को किसी भी उच्छृंखल उत्तेजना ने नहीं झकझोरा; कभी किसी उत्कट लालसा ने अवचेतन की गहराइयों से निकलकर बाहर की दुनिया नहीं देखी।

परमानंदमय अबोध के सौभाग्य से परिपूर्ण इस बालक को समय से पहले पड़नेवाले उन तनावों का सामना नहीं करना पड़ा जो अनेक प्रतिभाशाली व्यक्तियों और पैगंबरों का निर्माण, और उनका विध्वंस भी, करते रहे हैं। उसे इन तनावों का सामना करना पड़ा तो तभी जब उसका मस्तिष्क परिपक्व हो चुका था, और जब आंतरिक विस्फोट हुआ तो वह बहादुरी और धीरज के साथ, अडिग रहकर, घमंड से चूर हुए बिना और किसी से झगड़ा मोल लिए बिना उसके दबाव को झेलने की क्षमता पा चुका था।

यह सही है कि इस छोटे से स्कूली लड़के में माता-पिता के प्रति भक्ति की, कर्तव्य के प्रति समर्पण की और असत्य से विपासा की एक स्पष्ट भावना देखी जा सकती थी। लेकिन जिस सामाजिक परिवेश में उसका लालन-पालन हुआ था उसमें ये गुण कोई बहुत असाधारण भी नहीं थे। जो कुछ सचमुच असाधारण था वह आत्मा में इतने गहरे छिपा हुआ था कि उस उम्र में शायद ही उसका कोई चिह्न दिखाई देता था।

इसलिए हम इस ज्ञान से प्रेरणा और साहस भी पा सकते हैं कि ऐसा एक मामूली-सा लड़का आगे चलकर जो कुछ बना वह अपनी इच्छाशक्ति के अनथक व्यवहार से बना, और इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं कि दूसरे भी वैसा करने में सफल न हों। एक ऐसा दब्बू लड़का जो अंधेरे में सोने नहीं जाता था—"मैं एक दिशा से भूतों के, दूसरी दिशा से चोरों के और तीसरी दिशा से किसी सांप के आने की कल्पनाएं करता रहता था"—अगर ऐसा लड़का एक निर्भीकतम मनुष्य बन सकता था तो फिर तो सबके लिए आशा के द्वार खुले हुए हैं।

अगर प्रतिभा शब्द का प्रयोग करना ही हो तो हम कहेंगे कि गांधी जी की प्रतिभा इसमें थी कि वे निरंतर, भयभीत हुए बिना और थके बिना, कष्ट उठाकर भी एक कभी न थमनेवाली नैतिक प्रेरणा का पालन करते रहते थे। युवावस्था की दहलीज लांघने के बाद उनका पूरा जीवन एक क्षण विश्राम किए बिना भी सत्य की खोज का एक लंबा अभियान था—ऐसे सत्य का जो 'अनादि और अनंत' था, जो अमूर्त या तत्वमीमांसी सत्य नहीं बल्कि ऐसा सत्य था जिसे मानव-संबंधों में ही साकार किया जा सकता था। वे एक एक कदम आगे बढ़े और कोई कदम दूसरे मनुष्यों के कदमों से बड़ा नहीं था, और फिर हमने उन्हें ऐसी ऊंचाई पर देखा जहां वे महामानव दिखाई देते थे। अल्बर्ट आंइस्टाइन जो खुद अपने युग के एक महामानव थे, लिखते हैं "संभव है आगे आनेवाली पीढ़ियां शायद ही यह विश्वास कर सकें कि इस प्रकार का हाड़-मांस का मनुष्य भी कभी इस धरती पर विचरण करता था।" अगर गांधी जी आखिर में किसी भी दूसरे इंसान से भिन्न दिखाई देते थे तो हम यह भी याद रखें कि आरंभ में वे भी किसी भी दूसरे इंसान जैसे ही थे।

उनके जीवन और उसकी शिक्षा का अद्वितीय सौंदर्य इसी में निहित है। सौभाग्य से जब वे पूरी तरह सार्वजनिक जीवन में आए तब उनके जीवन में कुछ भी गुप्त नहीं रहा; उसके पहले की मुख्य घटनाओं को उन्होंने खुद दर्ज कर दिया है। उन्होंने बहुत विस्तार से और बिना किसी संकोच के अपनी नैतिक और राजनीतिक चेतना के विकास का वर्णन किया है। अगर वे ऐसा नहीं करते तो हमारे इस सहज-विश्वासी देश में ऐसे भक्त कथावाचकों की कमी नहीं है जो उनके जन्म की पूर्वसूचना देने वाले रहस्यपूर्ण संकेतों का आविष्कार करते और जब वे अभी

मां के गर्भ में थे, उनके चारों ओर एक दैवी प्रभामंडल खींच देते। गुरुदेव ने कितनी सही बात कही थी कि—

आपकी भाषा आसान है स्वामी,
पर उनकी नहीं जो आपकी बातें करते हैं।

गांधी जी क्या एक राजनीतिज्ञ थे या एक संत थे ? क्या वे राजनीतिज्ञों में संत थे या संतों में राजनीतिज्ञ थे ? क्या व्यक्ति दोनों हो सकता है ? क्या वे राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने में सफल रहे, जैसा कि उनके अनेक प्रशंसकों का दावा है ? क्या उनको राष्ट्रपिता कहनेवाला राष्ट्र इस दावे की पुष्टि करता है ? ये ऐसे प्रश्न हैं जिन्हें आनेवाली पीढ़ियां भी पूछती रहेंगी।

इसी बीच हम कुल इतना कह सकते हैं कि वे जो कुछ भी रहे हों, अपने युग के किसी भी अन्य मनुष्य से भिन्न थे। गांधी जी की मृत्यु से दस साल पहले गुरुदेव ने लिखा था, "शायद वे सफल न हों; मनुष्य को उसकी दुष्टता से मुक्त कराने में शायद वे उसी तरह असफल रहें जैसे बुद्ध रहे, जैसे ईसा रहे। मगर उनको हमेशा ऐसे व्यक्ति के रूप में याद किया जाएगा जिसने अपना जीवन आगे आनेवाले सभी युगों के लिए एक शिक्षा समान बना दिया है।"

जन्म और लालन-पालन

मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म 2 अक्तूबर 1860 को पोरबंदर में हुआ था। यह छोटा सा नगर भारत के पश्चिमी तट पर स्थित था और काठियावाड़ के अनेक रजवाड़ों में एक था। इसी को आज गुजरात का सौराष्ट्र क्षेत्र कहा जाता है। तीस हजार वर्गमील से कम क्षेत्रफल वाला यह लगभग आयताकार प्रायद्वीप पश्चिम में अरब सागर में घुसा हुआ है, ऊपर कच्छ की खाड़ी और नीचे कैंबे की खाड़ी से घिरा हुआ है, और उसके उत्तर में रेगिस्तान स्थित है।

यह क्षेत्र जो अभी हाल तक राजनीतिक दृष्टि से भारत के सबसे पिछड़े क्षेत्रों में एक था, सदियों तक अनेक हमलावर गिरोहों की रणभूमि रहा। यहां तीन सौ से अधिक छोटी छोटी रियासतें मौजूद थीं जिनमें से कुछ तो एक गांव से बड़ी नहीं थीं और कोई भी एक औसत आकार के जिले से बड़ी नहीं थी; जिसे तब ब्रिटिश भारत कहा जाता था। इनके शासक जिनको राणा या ठाकुर या नवाब कहा जाता था, छोटे छोटे तानाशाह थे। वे एक दूसरे से जलते थे और आपस में भिड़ने के लिए बेचैन रहते थे, लेकिन उनके साझे अधिराज अर्थात ब्रिटिश रेजिडेंट का भय उनको काबू में रखता था।

गहरी असुरक्षा, षड्यंत्रों और मनमाने न्याय के इस सामंती वातावरण में बहादुर मुजरिमों की चांदी रहती थी। उनके कुछ कारनामे दंतकथाओं का रूप ले चुके हैं और अभी भी चारण-गीतों या लोककथाओं में याद किए जाते हैं। उथलपुथल भरे नागरिक जीवन के अनिश्चित वातावरण में पले-बड़े ये लोग हट्टे-कट्टे और स्वस्थ होते थे जिनकी समुद्रयात्रा और व्यापारिक उद्यमशीलता की एक परंपरा थी। वे भक्त और अंधविश्वासी होते थे जैसा कि इस प्रकार के वातावरण में रहनेवाले आमतौर पर होते हैं। इसका एक और कारण द्वारिका नगरी थी। पश्चिमी तट पर स्थित, हिंदुओं की यह तीर्थस्थली उस राज्य की लोकप्रसिद्ध राजधानी थी जिस पर **भगवद्गीता** के उपदेशक श्रीकृष्ण ने शासन किया था। हिंदुत्व की इस वैष्णव परंपरा में जैन धर्म तथा आगे चलकर मुस्लिम सूफीवाद के प्रभाव ने अपने धार्मिक रंग जोड़े थे। रुढ़िवाद और सहिष्णुता, उदासीनता और करुणा, भोग और त्याग का एक विशेष प्रकार का भारतीय मिश्रण इसका परिणाम था।

ऐसा था वह सामाजिक परिवेश जिसमें एक मध्यवर्गीय वैश्य परिवार में मोहन

का जन्म हुआ था। कहते हैं कि उनके पूर्वज मूल रूप से बिसाती थे मगर परिवार की सामाजिक स्थिति निरंतर बढ़ती रही। फिर मोहन के दादा उत्तमचंद पोरबंदर के राणा के दीवान या प्रधानमंत्री बने। एक सच्चरित्र, ईमानदार और निर्भीक व्यक्ति होने के कारण उन्हें कष्ट भी उठाने पड़े और शासक की मृत्यु के बाद उनको राज-रानी के कोप का भाजन बनना पड़ा। सुरक्षा के लिए वे भागकर पड़ोसी जूनागढ़ राज्य में चले गए जहां के मुसलमान नवाब ने उन्हें शरण दी।

जब वे नवाब के सामने उपस्थित हुए तो उन्होंने उसे बाएं हाथ से सलाम किया और इस धृष्टता का कारण यह बतलाया कि उनका दायां हाथ तो अभी भी पोरबंदर के प्रति निष्ठावान था। लगभग बीसवीं सदी तक उस पिछड़े इलाके में बाकी बचे सामंती युग में निष्ठाएं संकीर्ण होती थीं और उनके नियम बड़े कठोर होते थे। नवाब बहुत उदार था और उसने इस साहसपूर्ण उत्तर की प्रशंसा करते हुए न केवल उनको नाममात्र का दंड देकर छोड़ दिया बल्कि इस बहादुर शरणार्थी पर एक विशेष कृपा भी की। बाद में जब पोरबंदर में एक नए राणा ने शासन संभाला तो नवाब ने अपने प्रभाव का उपयोग करके उनको वापस पोरबंदर भिजवा दिया।

उत्तमचंद के बाद फिर उनके बेटे करमचंद गांधी पोरबंदर के दीवान बने। अपने पिता की तरह उन्होंने भी मामूली औपचारिक शिक्षा पाई थी। लेकिन वे सत्यप्रिय थे, साहसी थे, दृढ़ चरित्र के व्यक्ति थे और व्यावहारिक सहजबुद्धि से लैस थे। उनके अनेक सद्गुणों को याद करते हुए उनके और भी सत्यवान और योगी-प्रकृति बेटे ने आगे चलकर लिखा, "एक सीमा तक वे विषय-वासना के प्रेमी भी रहे होंगे क्योंकि उन्होंने चौथी बार विवाह तब किया जब वे चालीस से ऊपर थे।" उनका ऐसा करना सौभाग्य का कारण था क्योंकि महात्मा का जन्म उसी चौथी पत्नी पुतलीबाई के गर्भ से हुआ। उनका नाम मोहन रखा गया मगर उनकी माता उनको स्नेह से मुनिया कहती थीं।

वे अत्यंत धार्मिक, सज्जन और निष्ठावान प्रकृति की महिला थीं, और व्रत या पूजा-पाठ के निर्धारित कर्मकांडों के पालन में कोई ढील नहीं देती थीं। उन्होंने अपने बेटे के मन पर एक गहरी छाप छोड़ी जो उनको लगभग पूजता था। बरसों बाद पुणे की यरवदा जेल में गांधी जी ने अपने मित्र और सचिव महादेव देसाई से कहा था, "तुम्हें मेरे अंदर जो भी शुद्धता दिखाई देती हो वह मैंने अपने पिता से नहीं, अपनी माता से पाई है...उन्होंने मेरे मन पर जो एकमात्र प्रभाव छोड़ा वह साधुता का प्रभाव था।"

मोहन को पोरबंदर के एक प्रारंभिक विद्यालय में भेजा गया जहां उन्हें पहाड़े याद रखना कठिन लगता था, "मेरी बुद्धि मोटी और याददाश्त कच्ची रही होगी।" जल्द ही उनका परिवार राजकोट चला गया जो काठियावाड़ की एक और छोटी-सी

रियासत था। यहां भी उनके पिता को दीवान का पद मिला। राजकोट में मोहन एक प्राथमिक पाठशाला में और फिर एक हाईस्कूल में भेजे गए। वे परिश्रमी अवश्य थे मगर एक 'औसत दर्जे के छात्र' थे, अत्यंत शरमीले और दब्बू स्वभाव के थे, किसी के साथ से घबराते थे और खेलकूद से दूर रहते थे। उनके अन्यथा नीरस विद्यालय-जीवन की केवल एक घटना को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनकी नैतिक भावना का संकेत देती है। यह घटना तब घटी जब विद्यालय निरीक्षक उसकी कक्षा में आए और वर्तनी (स्पेलिंग) की परीक्षा ली। उनके कक्षाध्यापक ने जब देखा कि मोहन ने 'केटिल' (Kettle) शब्द की वर्तनी गलत लिखी है तो उन्होंने पांव के अंगूठे से मोहन को इशारा किया कि वे पास के लड़के की स्लेट से सही वर्तनी नकल कर लें। लेकिन मोहन ने रुखाई से इस संकेत की उपेक्षा की और बाद में अपनी 'मूर्खता' के लिए लताड़े भी गए। महात्मा ने आगे लिखा, "मैं कभी नकल की कला सीख ही नहीं सका।"

लेकिन कक्षा के बाहर का जीवन कम घटनाविहीन और नीरस था और इस बात का गवाह था कि देखने में दब्बू लड़का किसी नैतिक उद्देश्य या प्रयोग के लिए जोखिम उठाने से चूकनेवाला नहीं था। हम यहां उसमें दूसरों के परिष्कार का वह आवेग भी देख सकते हैं जो आगे चलकर इस महान योद्धा की प्रमुख विशेषता बन गया, हालांकि इस दृष्टांत में इस उत्साह ने उसे लगभग पथविमुख ही कर दिया था। वे अपने बड़े भाई के एक मुस्लिम दोस्त की ओर आकृष्ट हुए जिसका नाम शेख महताब था। उसके कसरती बदन और दुस्साहसी प्रकृति ने मोहन पर सम्मोहन-सा कर रखा था जो खुद अपेक्षाकृत कमजोर बदन के थे तथा भूतों, चोरों और सांपों से डरते रहते थे। महताब किसी भी चीज से नहीं डरता था तथा सामाजिक और नैतिक नियमों का खुलकर मजाक उड़ाया करता था। 'इस दोस्त के कारनामों ने मुझ पर जादू कर रखा था।'

शेख महताब ने मोहन को विश्वास दिला दिया कि 'शक्तिशाली अंग्रेज' इसलिए 'ठिगने हिंदुस्तानी' पर राज कर रहा था क्योंकि अंग्रेज अपनी 'भीम जैसी' शक्ति पशुओं के मांस से प्राप्त करता था। इसलिए एक रूढ़िवादी शाकाहारी परिवार में पले मोहन ने चुपके चुपके पका हुआ मांस खाया; यह उनका देशभक्ति संबंधी पहला प्रयोग था। यहां एक टुकड़ा गले से उतारने के बाद उनको अपने परंपरागत संस्कारों के कारण ऐसा महसूस होने लगा गोया 'एक जिंदा बकरा मेरे अंदर मिमिया रहा हो।'* लेकिन इसके अलावा उनको इस सच्चाई से भी जूझना पड़ा कि ऐसे गुपचुप भोजन करने को माता-पिता से छिपाना पड़ेगा जिसके लिए झूठ बोलना पड़ेगा। यह बोझ उनकी अंतरात्मा पर बहुत भारी साबित हुआ और ऐसे कुछेक जोखिम उठाने के बाद उन्होंने इस प्रयोग को छोड़ दिया। उन्होंने स्वयं को यह सोचकर सांत्वना दी, "जब वे नहीं रहेंगे और मुझे मेरी आजादी मिल चुकी

होगी तो मैं खुलकर मांसाहार करूंगा।''

उन्होंने कुछ दुस्साहस और भी किए। इनमें बड़ों के फेंके हुए सिगरेटों के टुकड़े पीना भी शामिल था और जब यह लालसा बढ़ी तो वे 'धूम्रपान के लिए नौकरों के पैसे भी चुराने' लगे। एक और भी गंभीर दुस्साहस तब हुआ जब शेख महताब उनको एक वेश्या के पास लेकर गया। ''मैं पाप के इस घरौंदे में लगभग अंधा-गूंगा बनकर रह गया। मैं उस स्त्री के बिस्तर पर उसके पास बैठा था, मगर मेरी जबान गूंगी थी। स्वाभाविक था कि मेरे बारे में उसका सब्र जाता रहा और उसने मुझे गालियां देकर और मेरी बेइज्जती करके दरवाजे का रास्ता दिखा दिया। मुझे तब लगा गोया मेरी मर्दानगी पर चोट की गई है और मैं शर्म के मारे जमीन में धंस जाना चाहता था। लेकिन फिर मैं बराबर ईश्वर का आभारी रहा हूं कि उसने मुझे बचा लिया।'' जब गांधी जी ने इस घटना का वर्णन किया तब तक वे महात्मा का पद पा चुके थे। उन्होंने बड़ी ईमानदारी से आगे कहा, ''किसी शुद्ध नैतिक दृष्टिकोण से इन सभी अवसरों को नैतिक भटकाव कहना चाहिए क्योंकि वासना की इच्छा अपनी जगह पर थी और वह वासना के कर्म के बराबर ही थी।''

एक और भटकाव की याद भी उनके मन में बनी रही और वह यह था कि उन्होंने अपने भाई के बाजूबंद से ठोस सोने का एक टुकड़ा उड़ा लिया और उसे बेचकर भाई का कर्ज अदा किया। यह अपराधबोध तब तक उनकी आत्मा पर छाया रहा जब तक उन्होंने अपने पिता के आगे इसे लिखित रूप में स्वीकार करके मुनासिब सजा की मांग नहीं की। ''उन्होंने इसे पूरा पढ़ा और मोती जैसे आंसू उनके गालों पर से बहकर कागज को गीला करने लगे...मोती जैसी उन बूंदों ने मेरे हृदय को शुद्ध कर दिया और मेरे पाप धो दिए।''

आगे चलकर गांधी जी ने एक मित्र (इस दृष्टांत में शेख महताब) के प्रति ऐसे वैयक्तिक लगाव के घातक परिणामों पर टिप्पणी करते हुए कहा था, ''वे जो ईश्वर के मित्र हैं उन्हें अकेले रहना चाहिए या फिर पूरी दुनिया को अपना मित्र बना लेना चाहिए।''

तेरह साल की आयु में जब मोहन अभी विद्यालय में ही थे, उनकी शादी कस्तूरबाई से कर दी गई जो उन्हीं की उम्र की थीं। उनकी उम्र के लड़के के लिए विवाह का अर्थ उत्सवों और समारोहों, पहनने के लिए नए नए कपड़ों, कर्णप्रिय संस्कृत मंत्रों के उच्चारण के साथ होने वाले चित्ताकर्षक अनुष्ठानों और स्वयं उसके इन समारोहों का केंद्र होने से अधिक शायद ही कुछ और था। सबसे बड़ी बात यह कि खेलने के लिए एक नया, अजनबी, सुंदर और आज्ञाकारी साथी मिल रहा था।

लेकिन यौन भावना उभरते देर नहीं लगी और उन्होंने खुद बड़ी प्रशंसनीय

स्पष्टवादिता के साथ इसका वर्णन किया है। वे कामदेव के आक्रमण से त्रस्त थे और उन्होंने खुद को कभी इस बारे में धोखे में नहीं रखा कि यह कुछ और था। न ही उन्होंने उसे, स्त्री को वशीकरण का कारण और पाप का स्रोत बताकर खुद को इसकी जिम्मेदारी से मुक्त किया। वास्तव में जो असीम कोमलभाव और स्नेह, उनके पूरे जीवन में, स्त्रियों के साथ उनके संबंधों की विशेषता रहा उसका कुछ कम कारण उस अग्निपरीक्षा का वैयक्तिक अनुभव नहीं था जो उन्होंने अपनी युवा और मासूम पत्नी के साथ दी थी।

वास्तव में एक घटिया किस्म की धातु को सोने में रूपांतरित करनेवाला यही आंतरिक रूपांतरण था जिसके कारण गुरुदेव ने गांधी जी के बारे में कहा था, "वे यौन जीवन को मानव की नैतिक प्रगति के प्रतिकूल बताकर उसकी निंदा करते हैं और यौन के प्रति उनका भय उतना ही अधिक है जितना **दि क्रूजर सोनाता** के लेखक का है। लेकिन वे तालस्ताय के विपरीत अपने जैसे मनुष्यों को लुभानेवाली यौन भावना से कोई घृणा नहीं करते। वास्तव में स्त्रीजाति के प्रति उनका कोमलभाव उनके चरित्र की महानतम और सबसे सुसंगत विशेषताओं में एक है और वे समझते हैं कि उनके देश की स्त्रियों में कुछ ऐसी भी हैं जो उनके नेतृत्व में जारी महान आंदोलन में उनकी बेहतरीन और सबसे सच्ची संगिनी होंगी।"

उनके मस्तिष्क पर छा जानेवाली एक घटना उस रात घटी जब उनके पिता की मृत्यु हुई। वे रोगी की सेवा में लगे थे और बिस्तर पर उनकी मालिश कर रहे थे लेकिन उनके विचार उनकी पत्नी के गिर्द मंडरा रहे थे जो संभवतया बिस्तर में लेटी उनके आने का इंतजार कर रही थी। जब उनके चाचा ने उनकी जगह लेने की बात कही तो मोहन खुशी से फूले नहीं समाए और सीधे अपने शयनकक्ष की ओर दौड़े। "मेरी पत्नी बेचारी गहरी नींद में थी। लेकिन मेरे वहां रहते हुए वह सो कैसे सकती थी ! मैंने उसे जगा दिया।" कुछ मिनट के बाद दरवाजे पर दस्तक हुई जिसने उनके जुनून को तोड़ दिया। तब यह दुखद समाचार मिला कि उनके पिता अब नहीं रहे।

पिता के मरने की नाजुक घड़ी में काम-वासना से ग्रस्त होने की वह शर्मिंदगी "एक ऐसा कलंक थी जिसे मैं कभी मिटा या भुला नहीं सका, और मैंने हमेशा यही सोचा कि हालांकि माता-पिता के प्रति मेरी भक्ति असीम थी और इसके लिए मैं किसी भी वस्तु का त्याग कर सकता था, मगर यह भक्ति दबी रही और इसका अक्षम्य अभाव रहा क्योंकि मेरा मन उसी क्षण वासना की जकड़ में था। इसलिए मैंने खुद को हमेशा ही एक कामुक हालांकि निष्ठावान पति समझा है। मुझे वासना के बंधनों से मुक्त होने में लंबा समय लगा और इसे वशीभूत करने से पहले मुझे अनेक परीक्षाओं से गुजरना पड़ा।"

मनोवैज्ञानिक अंतःदृष्टि से परिपूर्ण कोई भावी जीवनी-लेखक इस घटना को और इस पर गांधी जी की टिप्पणियों को महात्मा के जटिल और उलझन भरे व्यक्तित्व को गहराई से समझने के लिए एक उपयोगी सूत्र समझेगा।

भाग्य का संकेत

मोहन के पिता सन 1885 में स्वर्गवासी हुए। दो साल बाद उन्होंने हाईस्कूल से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की और भावनगर की पड़ोसी रियासत के एक कालेज में प्रवेश लिया। क्योंकि तब राजकोट में कोई कालेज नहीं था। उन्होंने यहां पढ़ाई-लिखाई को दुष्कर, अंग्रेजी माध्यम को कठिन तथा वातावरण को मैत्री-भाव से रहित पाया। परिवार के एक मित्र ने उनको सुझाव दिया कि वे अगर रियासत की सेवा में अपने पिता का स्थान पाना चाहते हैं तो बेहतर है कि इंग्लैंड जाकर बैरिस्टर बनें। मोहन इस विचार पर उछल पड़े।

अब उनकी आत्मा एक बेचैनी से भर उठी। उनका दिल इंग्लैंड जाने के विचारों में रम गया। भाग्य उनको बुला रहा था—हालांकि तब तक उन्हें इसकी शायद ही कोई चेतना रही हो। लेकिन खर्च के लिए धन कहां से जुटाया जाए ? परिवार की आर्थिक स्थिति बुरी थी। मोहन ने छात्रवृत्ति पाने के लिए ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट से और राजकोट के ठाकुर साहब से संपर्क किया लेकिन उनको मनाने में असफल रहे। हार और बाधाओं से विचलित हुए बिना वे प्रयत्न करते रहे। अंततः कर्ज लिया गया। मां अपने प्यारे बेटे से बिछुड़ने के लिए तैयार नहीं थीं और डरती थीं कि वह एक अजनबी और अधार्मिक देश में जाकर खो जाएगा जहां उसके चारों और प्रलोभन ही प्रलोभन होंगे। मां की आपत्ति दूर करने के लिए मोहन उन्हें जितना समझा-बुझा सकते थे, समझाया-बुझाया, और व्रत लिया कि वे शराब, स्त्री और मांस से दूर ही रहेंगे।

आखिर वे लंदन का जहाज पकड़ने के लिए बंबई रवाना हुए। बंबई में उन्हें एक और बाधा का सामना करना पड़ा। उनके जाति बंधु समुद्र पार करने के खिलाफ सदियों पुराने पूर्वाग्रह से ग्रस्त थे क्योंकि समुद्र को वे अशुद्धि का कारण मानते थे और उससे भयभीत रहते थे। उन्होंने धमकी दी कि अगर मोहन ने अपने धर्मविरुद्ध प्रयास को जारी रखा तो वे उनको जाति-बाहर कर देंगे। लेकिन मोहन अपने विचारों पर अडिग रहे। जाति रहे या जाए, उनको विदेश जाना ही है। उनको जाति-पंचायत ने बहिष्कृत कर दिया। लेकिन इससे विचलित हुए बिना वे 4 सितंबर 1888 को साउथैंपटन के लिए चल पड़े। तब वे अठारह साल के थे। कुछ ही समय पहले कस्तूरबाई ने उनको एक पुत्ररत्न दिया था।

जहाज में वे अंग्रेजी में अपनी डायरी लिखने लगे। इसमें उन्होंने मर्मस्पर्शी स्पष्टवादिता और सादगी के साथ उन कठिनाइयों और अपमानों का वर्णन किया है जो उनको झेलने पड़े थे। वे कहते हैं, "मैं लिख दूं, अगर मेरी जैसी स्थिति में कोई दूसरा व्यक्ति होता तो मैं दावे के साथ कह सकता हूं उसने इंग्लैंड का मुंह नहीं देखा होता। जो मुश्किलें मुझे झेलनी पड़ी हैं उन्होंने मुझे इंग्लैंड को, जितना वह प्यारा हो सकता था उससे कहीं अधिक प्यारा बना दिया है।"

अगर मोहन का लालन-पालन बंबई या कलकत्ता के किसी पश्चिमी रंग में रंगे हिंदू परिवार में हुआ होता तो ऊंची शिक्षा के लिए इंग्लैंड जाने की उनकी उत्कट इच्छा असाधारण नहीं लगती। लेकिन जो इलाका सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ था उसमें उनके लालन-पालन और उनकी आरंभिक शिक्षा पर विचार करें, और साथ ही माता के प्रति उनके गहरे लगाव की बात सोचें जिनके वे लाडले थे, तो इस उत्कट आकांक्षा की केवल एक व्याख्या संभव है कि यह उनके भाग्य का आंतरिक उकसावा था जिसे उस ईमानदार लड़के ने अपने परिवार के हित में एक खुशहाल भौतिक जीवन की एक वैध महत्वाकांक्षा समझा। तीन साल बाद जब वे इंग्लैंड छोड़ने ही वाले थे, **दि वेजिटेरियन** के एक प्रतिनिधि ने उनसे पूछा था कि उनको इंग्लैंड आने और कानून का पेशा अपनाने के लिए किस चीज ने प्रेरित किया था। तब उन्होंने उत्तर में कहा था, "एक शब्द में कहें तो महत्वाकांक्षा...मैंने मन में सोचा, अगर मैं इंग्लैंड जाऊं तो न केवल मैं एक बैरिस्टर बनूंगा (जिसके बारे में मैं बहुत कुछ सोचा करता था) बल्कि मैं इंग्लैंड को देख सकूंगा जो दार्शनिकों और कवियों की भूमि है, जो सभ्यता का केंद्र है।"

लंदन में पहले कुछ दिन कष्टों से भरे थे। "मैं लगातार अपने घर और देश के बारे में सोचा करता था...हर चीज अजनबी थी—लोग, उनके तौर-तरीके, यहां तक कि उनके घर भी। मैं अंग्रेजी चालचलन से पूरी तरह अनजान था और मुझे लगातार सतर्क रहना पड़ता था। शाकाहार के व्रत की असुविधा इससे अलग थी। यहां तक कि जो व्यंजन मैं खा सकता था वे भी बेस्वाद और फीके होते थे।"

भोजन की कठिनाई तो तब हल हो गई जब उन्होंने एक दिन फैरिंगटन स्ट्रीट में एक शाकाहारी रेस्तरां देखा। "उसे देखकर मुझे वही खुशी हुई जो एक बच्चे को अपनी प्रिय वस्तु पाकर होती है।" लंदन में अपनी पसंद का पहला खाना पेट भरकर खाने के बाद उन्होंने हेनरी साल्ट द्वारा लिखित **ए प्ली फार वेजिटेरियनिज्म** की एक प्रति भी खरीदी। उसे पढ़कर उनके आनंद की सीमा नहीं रही। वे झूम झूम उठे। यह उनके जीवन की पहली क्रांतिकारी मानसिक प्रेरणा थी जो स्वतंत्र रूप से प्राप्त और सायास ग्रहण की गई थी। अभी तक वे शाकाहारी थे तो आदत के कारण और मां को प्रसन्न करने के लिए दिए गए वचन के कारण। अब वे विश्वासों से शाकाहारी हो गए।

उन्होंने भोजनशास्त्र संबंधी अनुसंधानों पर और भी बहुत-सी किताबें पढ़ीं और यह जानकर रोमांचित हो उठे कि आधुनिक विज्ञान उनके पूर्वजों के आचार-विचार की पुष्टि करता था। जैसा कि उन्होंने कहा है, शाकाहार का प्रचार करना अब उनके जीवन का ध्येय बन गया। भोजन के बारे में एक धुन के पक्के व्यक्ति के रूप में उनके मिशनरी उत्साह का आरंभ था, और यह धुन जीवन भर उनके साथ रही।

अपने प्रवास के आरंभिक दिनों में वे अंग्रेजों के जीवन की तड़क-भड़क से बहुत प्रभावित रहे और उनको ऐसे चरण से गुजरना पड़ा जिसे उन्होंने खुद ही भद्र अंग्रेजों की नक्काली कहा है। उन्होंने नए कपड़े बनवाए, एक रेशमी हैट खरीदा, बांड स्ट्रीट में बने एक सांध्यकालीन वस्त्र पर दस पाउंड की रकम खर्च की और घड़ी की सोने की बनी दोहरी जंजीर का प्रदर्शन करते रहे। उन्होंने संभाषण-कला और फ्रांसीसी सीखी और बालरूम नृत्य सीखने के लिए तीन गिन्नियां खर्च करीं। लेकिन उनको यह समझने में देर नहीं लगी कि अगर वे चरित्र से भद्र नहीं बन सकते तो यह महत्वाकांक्षा ऐसी नहीं है जिसे पाला जाए। वास्तविक गांधी का आभास यहीं मिलता है।

इस बीच उनके शाकाहारी संपर्क बढ़ते रहे और उनका अध्ययन भी बढ़ता रहा। वे एडवर्ड कारपेंटर, एडवर्ड मेटलैंड और अन्ना किंग्सफोर्ड की रचनाओं से प्रभावित हुए तथा मादाम ब्लावत्स्की और एनी बेसेंट के थियोसोफिकल विचारों से उनका परिचय हुआ। आदर्शवादी और झक्कड़ व्यक्तियों के लिए उनके दिल में हमेशा एक नर्म कोना बना रहा और वे नयी धुनों के प्रयोग करने से कभी पीछे नहीं हटे। हर बार उनका अनुभव उनकी बुद्धि में वृद्धि करता रहा हालांकि कभी कभी उनको मुसीबतें भी झेलनी पड़ीं।

ये उनके थियोसोफी संपर्कसूत्र ही थे जिनके द्वारा उन्होंने एडविन आर्नल्ड के अंग्रेजी अनुवाद के रूप में **भगवद्गीता** का परिचय प्राप्त किया। "उसने मेरे सामने जीवन का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया...मुझे विश्वास हो गया कि जो प्रकाश मुझे चाहिए था वह मैंने आखिरकार पा लिया है।" उन्होंने बुद्ध के जीवनचरित का एडविन आर्नल्ड कृत अंग्रेजी अनुवाद **दि लाइट आफ एशिया** भी पढ़ा और कार्लाइल की रचना **हीरोज एंड हीरो वर्शिप** में पैगंबरे इस्लाम वाला अध्याय भी पढ़ा। लगभग इसी समय बाइबिल से उन्हें उनके एक ईसाई दोस्त ने परिचित कराया जिसे वे एक शाकाहारी बोर्डिंग हाउस से जानते थे। वे फौरन पर्वत पर ईसा द्वारा दिए गए उपदेश के मुरीद बन गए। "मेरा युवा मस्तिष्क गीता के उपदेश, **दि लाइट आफ एशिया** और पर्वत पर दिए गए उपदेश के समन्वय के प्रयास करने लगा। इस विचार ने मुझे अत्यधिक आकर्षित किया कि संन्यास धर्म का श्रेष्ठतम स्वरूप है।"

सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना, हरेक के श्रेष्ठतम तत्वों को समझने की इच्छा और उनकी बुनियादी एकता की लगभग पूरी तरह सहज अनुभूति—उनके जीवन के आरंभ में ही उनके मन पर इन सबकी छाप पड़ गई। यह भी महत्वपूर्ण बात है कि अपने देश और धर्म की विरासत की चेतना और समझ उनको मिली तो इंग्लैंड में और अंग्रेजी भाषा के द्वारा। यहां तक कि उनके शाकाहार ने भी इसी नए बौद्धिक और नैतिक प्रभाव के कारण आदत की जगह आस्था का रूप लिया। वे जब ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ महाविद्रोह कर रहे थे तब भी वे अंग्रेज जनता और उनकी चिंतन परंपरा के प्रति अपने ऋणीभाव को नहीं भूले।

यह अफसोस की बात है कि लंदन में जो डायरी वे लिखते थे वह खो या नष्ट हो चुकी है; केवल इसके कुछेक पृष्ठ बचे हैं जिनको संयोग से नकल कर लिया गया था। उनसे हम देख सकते हैं कि किस निष्ठा के साथ बल्कि लगभग पूरी सादगी से वे अपने अनुभवों और विचारों को दर्ज करते रहते थे और कितने श्रम से वे उस कठिन अंग्रेजी माध्यम पर अधिकार प्राप्त कर रहे थे जिसने भावनगर में कालेज में जाने के समय उन्हें हताश कर दिया था। इससे भी ज्यादा अफसोस की बात यह है कि उनके वे लंबे लंबे पत्र भी बाद की पीढ़ियों के लिए खो चुके हैं जो वे राजकोट स्थित अपने भाई को हर सप्ताह लिखते थे और जिसमें वे अपनी मातृभाषा में अधिक खुलकर, अधिक भरपूर ढंग से अपने विचार व्यक्त कर पाते थे। ये पत्र लंदन में उनके जीवन के सबसे ग्रहणशील काल में उनकी रोजमर्रा की गतिविधियों और विचारों का मूल्यवान दस्तावेज हो सकते थे।

ये पत्र उनके कर्मों और उनके विचारों के सच्चे और विस्तृत दस्तावेज थे, यह उस पत्र से स्पष्ट हो जाता है जो उन्होंने 1932 में यरवदा जेल से अपने पुत्र मणिलाल की पत्नी को लिखा था : तुम बहुत काहिल लड़की हो और इसीलिए दो पृष्ठों का तुम्हारा पत्र तुम्हें लंबा लगा जबकि यह मुझे बहुत छोटा लगता है। जब मैं इंग्लैंड में था तो अपने भाईसाहब को एक ही पत्र में 20 से 25 पन्ने तक लिख डालता था और फिर भी मुझे लगता कि ये भी काफी नहीं हैं। मैंने कभी सोचा भी नहीं कि मेरे भाईसाहब इसे बहुत लंबा और पढ़ने में कठिन महसूस करेंगे; बल्कि मुझे विश्वास था कि वे इसे पसंद करेंगे। तुमने सप्ताह में जो कुछ किया है, जिन लोगों से मिली हो, जिन किताबों को पढ़ा है और जो गलतियां की हैं, अगर उनके बारे में तुम लिखने बैठो तो जितने पन्ने चाहो भर सकती हो। और जब तुम किसी भाई को पत्र लिखो तो वह सब अपने पत्र में भर सकती हो।

जब वे तीन दशक से भी अधिक समय बाद अपने इंग्लैंड के छात्र-जीवन का स्मरण करने लगे तब तक वे एक ईश्वरभीरु मनुष्य, एक महात्मा बन चुके थे। तब उनके अतीत का उनके लिए कोई अर्थ नहीं रह गया था, सिवाय उस भाग के जो उनके नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए, या उनके शब्दों में, सत्य

के साथ उनके प्रयोग के लिए प्रासंगिक रह गया था। इसलिए उन्होंने केवल ऐसी घटनाओं और अनुभवों को याद किया जो उन्हें इस बारे में प्रासंगिक या महत्वपूर्ण लगते थे। लेकिन वास्तव में लंदन में एक युवक के रूप में उनकी रुचियों और उनके अनुभवों में इससे कहीं बहुत अधिक विविधता पाई जाती थी। इसमें कोई शक नहीं कि सफेद फलालैन के कपड़े पहनकर जो अनुभवहीन लड़का एक दिन साउथैंपटन में उतरा था वह लंदन में बिताए हुए तीन सार्थक वर्षों के दौरान काफी कुछ परिपक्व हो चुका था और उसने अपने विचार विकसित कर लिए थे। कुछेक कानूनी किताबें या धर्मग्रंथ पढ़कर और वेजिटेरियन सोसायटी की बैठकों में शामिल होकर यह परिपक्वता शायद ही हासिल की जा सकती थी।

सौभाग्य से वे शाकाहार को सत्य का प्रयोग समझते थे और उन्होंने लंदन के शाकाहारियों से अपने संपर्क की स्मृतियों को बाद की पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा है। उनके अपने विचार विकसित हो रहे थे, इसका पता वेजिटेरियन सोसायटी की कार्यकारी समिति की एक बैठक में ही चला। इसमें एक सदस्य को निष्कासित करने का प्रस्ताव आया था जो संतान-निरोध में विश्वास रखता था और खुलकर उसका प्रचार करता था। इस प्रश्न ने गांधी जी को बहुत आकर्षित किया। कारण कि वे स्वयं तो (नैतिक आधार पर) संतान-निरोध के विरोधी थे और जीवन भर रहे लेकिन उनको लगता था कि उसका प्रचार अपने-आपमें शाकाहार के सिद्धांत का विरोध नहीं करता था और इसलिए वह किसी सदस्य के निष्कासन का वैध आधार नहीं हो सकता था। इसलिए उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया।

इसके बाद की घटना भी अपने-आपमें दिलचस्प थी। उन्होंने बड़े श्रम के साथ यह तर्क लिखा था कि 'कोई भी शाकाहारी सोसायटी का सदस्य हो सकता है, भले ही अन्य नैतिक प्रश्नों पर उसके विचार कुछ भी हों।' लेकिन वे जैसे ही इसे पढ़ने के लिए उठे, उनकी हिम्मत जवाब दे गई। इस आलेख को किसी और ने पढ़ा। वह दिन युवक गांधी की हार का दिन था और उस सदस्य को बाकायदा निष्कासित कर दिया गया। 'इस प्रकार इस तरह की पहली लड़ाई में ही मैंने खुद को कमजोर पक्ष के साथ पाया। लेकिन इस विचार से मुझे तसल्ली मिली कि मेरा ध्येय उचित था।'

लेकिन हालांकि उनके अपने विचार निरंतर विकसित हो रहे थे मगर अभी उन्हें जन्मजात शर्म और संकोच से छुटकारा नहीं मिला था। यह पहला अवसर नहीं था जब उनकी घबराहट उनकी हार का कारण बनी। इससे पहले, इंग्लैंड जाने से कुछ ही पहले, उनके गृहनगर के हाईस्कूल ने उनके सम्मान में एक विदाई का आयोजन किया था। मोहन ने सावधानी बरतकर धन्यवाद-ज्ञापन के दो शब्द लिखे थे। 'लेकिन मैं मुश्किल से उन्हें बोल सका। मुझे याद है जब मैं उन्हें पढ़ने के लिए उठा तो मेरा पूरा शरीर किस तरह कांप रहा था।'

ऐसी ही उलझन एक बार फिर तब सामने आई जब वे एक मित्र मजुमदार के साथ मई 1891 में बैटनर में शाकाहार पर हुए एक सम्मेलन में भाग लेने पहुंचे। उन्होंने पढ़ने के लिए एक भाषण तैयार किया था। लेकिन जब वे खड़े हुए तो 'मेरी नजर धुंधला गई और मैं कांपने लगा हालांकि यह भाषण मुश्किल से एक पन्ने का था।' मजुमदार को यह भाषण पढ़ना पड़ा। 'यह लज्जाशीलता मेरे पूरे इंग्लैंड प्रवास के दौरान बनी रही। यहां तक कि जब मैं सामाजिक शिष्टाचार के नाते किसी से मिलने जाता तो आधा दर्जन या ज्यादा लोगों की मौजूदगी मुझे गूंगा बना देती थी।'

इस प्रकार सार्वजनिक संभाषण अभी भी उनके लिए बेहद मुश्किल काम था, लेकिन लेखनी पर उन्होंने अधिक आसानी से अधिकार प्राप्त किया। जब वे पहली बार भावनगर के कालेज में गए थे, तब अंग्रेजी में दिए गए व्याख्यानों को समझ नहीं पाते थे। अब वे अपने देशवासियों की भोजन संबंधी आदतों, रीति-रिवाजों और तीज-त्यौहारों पर **दि वेजिटेरियन** में लेख लिखने लगे थे। पत्रकारिता के ये अपरिपक्व नमूने जो सरल, स्पष्टवादी और अन्य बातों से अप्रभावित थे, आज भी दिलचस्पी से पढ़ने की चीजें हैं। ये एक युवक के रूप में मोहन की प्रेक्षणशक्ति के प्रमाण हैं और पत्रकार के रूप में, उनके पूरे भावी जीवन के सबसे आरंभिक उदाहरण हैं। तथ्यों की सटीकता के प्रति उनकी गहरी सम्मान-भावना, उनकी वादविवाद की प्रवृत्ति, उनकी तीखे तर्क देने की क्षमता और नैतिक उपदेश देने की पुरानी आदत यहां, अविकसित और अपरिपक्व रूप में ही सही, देखी जा सकती है।

उन्होंने इस आम धारणा का खंडन किया कि हिंदू अपने शाकाहार के कारण शारीरिक कमजोरी के शिकार हैं। उन्होंने उनकी शारीरिक कमजोरी का कारण 'बाल-विवाह की घिनावनी परंपरा और उससे जुड़ी बुराइयों' को बतलाया। अपने अनुभवों के बल पर वे कहते हैं : 'मान लीजिए कि ग्यारह साल का एक लड़का उसी उम्र की एक लड़की से ब्याह दिया जाता है। इस प्रकार जब पति होने का अर्थ क्या है, इसके बारे में वह लड़का अनजान होता है और होना भी चाहिए, तब उसके सिर पर एक पत्नी लाद दी जाती है। जाहिर है कि वह विद्यालय भी जा रहा होता है। विद्यालय के नीरस कामों के अलावा उसे अपनी बालिका-वधू की देखभाल भी करनी पड़ती है...तो क्या केवल उसका कर्तव्यबोध ही उसके मन पर मंडराता नहीं रहेगा और उसके स्वास्थ्य को चौपट नहीं करेगा ?'

दि वेजिटेरियन के पाठकों के लाभार्थ उन्होंने भावनाओं के उस संघर्ष का वर्णन भी किया जो उनके मन में तब उठा था जब वे घर छोड़कर लंदन जानेवाले थे। 'सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-दौड़ते और पढ़ते हुए मैं इंग्लैंड के सपने देखता और उसी की बात सोचता रहता था, और यह भी कि उस यादगार दिन को मैं

क्या करूंगा। आखिर वह दिन भी आया। एक तरफ मेरी माता अपनी आंसू भरी आंखों को अपने हाथों में छिपा रही थीं लेकिन उनका सुबकना साफ सुनाई देता था। दूसरी ओर मैं अपने कोई पचास दोस्तों के बीच घिरा हुआ था। मैंने अपने मन में सोचा, 'अगर मैं रोता हूं तो वे मुझे कमजोर समझेंगे; शायद वे मुझे इंग्लैंड भी न जाने दें', और इसलिए मैं नहीं रोया हालांकि मेरा दिल चूर चूर हुआ जाता था। आखिर में अपनी पत्नी से विदा लेने की घड़ी आई जो कुछ कम करुण नहीं थी। दोस्तों की मौजूदगी में उससे मिलना या उससे बातें करना परंपरा के खिलाफ होता। इसलिए मुझे उससे एक अलग कमरे में मिलना पड़ा। निश्चित ही उसका रोना-धोना बहुत पहले शुरू हो चुका था। मैं उसके पास गया और उसके सामने एक पल तक मूर्ति की तरह खामोश खड़ा रहा। मैंने उसे चूमा और वह बोली, 'मत जाइए।' उसके बाद जो कुछ हुआ वह बतलाने की जरूरत नहीं।

उस समय लंदन अनेक नए बौद्धिक, राजनीतिक, सामाजिक और सौंदर्यशास्त्रीय प्रकृति के क्रांतिकारी विचारों और आंदोलनों का केंद्र था। यह ज्ञात नहीं है कि यह नवोदित पत्रकार उनसे किसी प्रकार प्रभावित हुआ या नहीं या उनसे परिचित भी था या नहीं। बहरहाल उसके मन पर उनका कोई इतना गहरा और सजीव प्रभाव नहीं पड़ा जिसे वह अपने संस्मरण लिखते समय याद करता। लेकिन गांधी जी ने 1890 की प्रदर्शनी के समय पेरिस-यात्रा का स्मरण अवश्य किया है। वे वहां के प्राचीन गिरजाघरों और खासकर नोत्रे देम के गिरजाघर से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सोचा कि 'जिन लोगों ने ऐसे भव्य गिरजाघर बनवाने पर करोड़ों खर्च किए हैं उनके हृदय में ईश्वर के प्रेम के अलावा और कोई भाव रहा ही नहीं होगा।' लेकिन वे आइफिल टावर की इंजीनियरिंग से अप्रभावित रहे और उन्होंने अनुमोदन के साथ तालस्ताय का कथन दोहराया है कि यह मीनार मनुष्य की बुद्धिमता नहीं, उसकी मूढ़ता का स्मारक थी। यहां हम उस रूसी विचारक के साथ उनकी निकटता और पश्चिमी सभ्यता के वैज्ञानिक तामझाम के प्रति उनकी घृणा को देख सकते हैं।

तीन साल बीते और इस युवा बैरिस्टर ने 11 जून 1891 को उच्च न्यायालय में उपस्थित होकर पंजीकरण कराया। फिर उसने और समय नहीं गंवाया और अगले दिन घर के लिए रवाना हो गया। उनका इंग्लैंड का प्रवास लाभदायक और प्रेरणाप्रद, दोनों रहा था। उन्होंने न केवल इस प्रवास का आनंद उठाया था बल्कि उनके अंदर वह आधार भी तैयार हो चुका था जिसके ऊपर उन्होंने धीरे धीरे, बड़ी मेहनत से, एक एक ईंट रखकर व्यक्तित्व का ऐसा ढांचा खड़ा किया जो आगे चलकर लगा कि कठोर चट्टान के एक ही टुकड़े से तराशा गया हो।

कई बार उन्होंने अपने पहले जीवनी-लेखक जोसेफ डोक के सामने स्वीकारा था कि 'आज भी भारत को छोड़ दुनिया के किसी भी दूसरे स्थान की अपेक्षा मैं लंदन में रहना अधिक पसंद करूंगा।'

घर पर कुंठा

घर लौटने और परिवार से फिर से मिलने की यह खुशी इस खबर को सुनकर जाती रही कि उनके पीछे माता का देहांत हो चुका था। मोहन अपनी मां से कितना लगाव रखते थे, यह जानने के कारण उनके भाई ने इस खबर को जानबूझकर रोक रखा था कि दूर देश में कहीं उनको धक्का न लगे। लेकिन बचपन में भी मोहन नर्मदिल होते हुए भी कभी भावुक नहीं रहे, और उन्होंने बड़े धैर्य के साथ इस हानि को सहा।

वे राजकोट में अपने परिवार से मिल सकें, इसके पहले उनके भाईसाहब उनको नासिक ले गए कि विदेश-यात्रा पर जातिबंधुओं द्वारा लगाए गए प्रतिबंध का उन्होंने जो उल्लंघन किया था उसके दंडस्वरूप वे पवित्र नदी में स्नान करके शुद्ध हो लें। राजकोट जाने के बाद बिरादरी के बुजुर्गों को मनाने के लिए बिरादरी को एक भोज भी देना था।

युवा गांधी न तो जातिप्रथा की कट्टरता में विश्वास रखते थे और न ही निरर्थक कर्मकांडों में। लेकिन वे अपने बड़े भाई की खुशी के लिए सब कुछ करने को तैयार थे जिन्होंने उनके लिए इतना कुछ किया था और उनसे इतनी सारी आशाएं लगा रखी थीं। यह भावना भाई से अधिक पुत्र के कर्तव्य की भावना थी और इसके सम्मान के लिए उनको बहुत से अपमान झेलने पड़े। इनमें सबसे कड़वा अपमान यह था कि उनको राजकोट के ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट ने शब्दशः घर के बाहर निकाल दिया जिससे उन्होंने अपने भाई की तरफ से बहस करने की कोशिश की थी।

पहले उनका आदर्शवाद मां को दिए गए इस वचन तक सीमित था कि वे शराब, स्त्री और मांस से दूर रहेंगे। इस नकारात्मक आज्ञा के साथ अब भोजन-सुधार के प्रति उनका उत्साह भी जुड़ गया था। वे जिसे तब तक खान-पान और पहनावे के सभ्य यूरोपीय तौर तरीके समझते थे, उनमें अपने और अपने भाई के परिवारजनों को पारंगत करने का उत्साह भी रखते थे। नतीजा यह हुआ कि घर के खर्चे बढ़ गए।

उन्हें पता था कि उनके भाई ने इस आशा पर कर्ज लेकर उनको इंग्लैंड भेजने का जोखिम उठाया था कि लौटने पर वे परिवार की समृद्धि को बढ़ाएंगे।

उस समय मोहन को इस बारे में कोई संदेह नहीं था कि उनके जीवन का तात्कालिक ध्येय यही था। तब राजकोट में वकालत से धन कमाने के अवसर बहुत थोड़े थे। इसलिए वे मुंबई आ गए कि पश्चिमी भारत के इस विराट महानगर में एक बैरिस्टर के रूप में स्थापित होंगे।

लेकिन इनर टेंपल के बैरिस्टर की औपचारिक योग्यता के अलावा उनका भारतीय कानूनों का ज्ञान लगभग नहीं के बराबर था। न ही उनके पास ऐसे अन्य सामाजिक साधन थे जो एक वकील के प्रतियोगिता पूर्ण पेशे में उनकी सहायता करते। उनकी नैतिक गंभीरता उनके लिए सहायक होने की बजाय एक बोझ थी। उस समय मुवक्किल लाने के लिए दलालों को कमीशन देने की प्रथा थी, मगर उन्होंने इसे अपनाने से इनकार कर दिया। नतीजा यह हुआ कि उनको उंगलियां चटकानी पड़ती थीं और कचहरी में बैठे ऊंघना पड़ता था।

एक मुकदमा आखिरकार उनके पास आया। उनको छोटे मुकदमों की अदालत में एक मामूली से मुकदमे में बचाव के लिए लिया गया। जब वे वादी के गवाह से पूछताछ के लिए खड़े हुए तो उनकी जन्मजात घबराहट उन पर फिर छा गई। 'मेरा सिर घूम रहा था और मुझे लगा कि पूरी अदालत इसी तरह घूम रही थी। मैं पूछने के लिए कोई सवाल नहीं सोच सका।' आखिर किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वे बैठ गए और मुवक्किल की दी हुई फीस उसके एजेंट को लौटा दी।

फिर वे कभी कचहरी नहीं गए और एक विद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक की एक अशंकालिक नौकरी पाने की कोशिश की। जब प्रधानाध्यापक को पता चला कि उम्मीदवार के पास किसी विश्वविद्यालय की उपाधि नहीं थी तो उसने 'दुख के साथ मुझे लेने से इनकार कर दिया।'

मुंबई में छह माह तक बदकिस्मती के साथ कोशिशें करने के बाद युवक गांधी ने अपना छोटा-सा दफ्तर समेटा और राजकोट लौट गए। यहां अपने भाई और दूसरे परिचितजनों की सहायता से वे प्रार्थनापत्र और स्मरणपत्र लिखकर थोड़ी-बहुत कमाई करने लगे। ऐसी नीरस मुंशीगिरी करके पिद्दी बराबर कमाई करना एक बैरिस्टर के लिए वाकई बहुत कुंठाजनक अनुभव था।

रियासत का संरक्षण या दरबार की नौकरी पाने के बारे में उनके भाई को और उन्हें जो कुछ आशाएं रही हों, वे ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट के साथ उस दुखद टकराव के बाद जाती रहीं जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है। यह अपमान उनके मन को कचोटता रहा। इसके अलावा काठियावाड़ की क्षुद्र रियासतों में षड्यंत्रों और भ्रष्टाचार का आम वातावरण व्याप्त था जो उनको नैतिक दृष्टि से घृणित लगता था। इसलिए बड़ी बड़ी आशाएं लेकर इंग्लैंड से लौटनेवाले युवक गांधी को न केवल खुद को बंद गली में पाने में बल्कि पस्तहिम्मत और कुंठित होने में भी देर नहीं लगी। वे किधर को जाएं, इसका ज्ञान उनको नहीं था।

फिर इसी स्थिति में ईश्वर की कृपा हुई। काठियावाड़ में एक मुसलमान की फर्म थी जिसका दक्षिण अफ्रीका में भारी व्यापारिक कारोबार था। उसने उनको वहां भेजने का प्रस्ताव रखा कि वे वहां जाकर एक बड़े मुकदमे में उनके सलाहकार का मार्गदर्शन और उसकी सहायता करें। इसकी शर्तें अपेक्षाकृत आकर्षक थीं और वहां रहने की अवधि एक साल से ज्यादा नहीं थी। गांधी जी ने इसे धन्यवाद के साथ स्वीकार कर लिया कि जिस अपमानजनक स्थिति में वे फंसे हुए थे उससे थोड़ी-बहुत राहत मिलेगी और बाहर की लंबी-चौड़ी दुनिया में अपनी किस्मत आजमाने का मौका मिलेगा। उन्होंने इस प्रस्ताव को सहर्ष मान लिया और अप्रैल 1893 में डरबन के लिए चल पड़े।

घात में बैठा भाग्य

गांधी जी को शायद ही एहसास रहा हो कि वे कहां जाकर फसेंगे। वे तो प्रसन्नमन यह सोच रहे थे कि वे घर की दुखद स्थिति से बाहर निकल रहे थे और आखिरकार कुछ कमानेवाले थे। उस समय उनकी मुख्य महत्वाकांक्षा यही थी कि कुछ करके दिखाएं और परिवार की समृद्धि वापस लाएं। वे भाग्य के गुप्त अभिप्राय से और उन पर होनेवाले घात से पूरी तरह अनजान थे।

यह दक्षिण अफ्रीका की ही बात है कि यह संकोची, अनुभवहीन और निस्सहाय युवक उन ताकतों से टकराया जिन्होंने उसे मजबूर किया कि वह अपनी नैतिक शक्ति के गुप्त कोष को बाहर निकाले तथा अपमान और हताशा को एक रचनात्मक आध्यात्मिक अनुभव की शक्ल में ढाले।

गांधी जी अभी तक इंग्लैंड के इनर टैंपल के बैरिस्टर के रूप में अपनी सामाजिक स्थिति के बारे में बहुत सजग थे। फिर ऐसा हुआ कि उनको जिस जहाज के द्वारा नेटाल जाना था उसमें पहले दर्जे की कोई शैया उपलब्ध नहीं थी। निचले दर्जे में सफर करना अपनी स्थिति को गिराना था। तब युवक बैरिस्टर ने जहाज के मुख्य अधिकारी से व्यक्तिगत रूप से संपर्क किया जिसने उनसे उनकी स्थिति के बारे में सहानुभूति जताई और उनको अपने केबिन में एक शैया दी।

इस प्रकार यात्रा के दौरान अपनी गरिमा को बनाए रखकर यह युवक बैरिस्टर एक फ्राक-कोट और पगड़ी पहने पोर्ट नेटाल पर उतारा। (इसे डरबन भी कहा जाता है।) यहां उसका स्वागत उसके मुवक्किल अबदुल्ला सेठ ने किया। गांधी जी को समझते देर नहीं लगी कि वे जिस गरिमा को इतनी सतर्कता से बचाकर रखे हुए हैं वह उस देश में उनके लिए मददगार नहीं होगी। कारण कि वह देश एक ब्रिटिश उपनिवेश अवश्य था मगर ऐसे जीवन मूल्यों से ग्रस्त था जो उन जीवन मूल्यों के ठीक उलटे थे जिनका सम्मान उन्होंने इंग्लैंड में रहकर ब्रिटिश या ईसाई संस्कृति के रूप में करना सीखा था। भाग्य उनको फुसलाकर ऐसे देश में ले गया था जिसे उन्होंने आगे चलकर 'ईश्वर द्वारा परित्यक्त ऐसा महाद्वीप' कहा 'जहां मैंने अपने ईश्वर को पाया।'

दक्षिण अफ्रीका के दूसरे श्वेत उपनिवेशों की तरह नेटाल की आबादी में भी ब्रिटिश और डच 'गोरे' कुल मिलाकर बहुत थोड़े से थे। लेकिन वे देसी अफ्रीकियों

और हिंदुस्तानियों से अमानवीय व्यवहार करते थे। हिंदुस्तानियों को वहां 1860 में यूरोपीय आबादकारों की प्रार्थना पर भेजा गया कि वे वहां उनकी बागान-अर्थव्यवस्था के निर्माण में सहायता देंगे। उनको पांच साल के समझौते पर करारबंद मजदूरों के रूप में वहां भेजा गया था और उनको वहां अपने-आपमें स्वतंत्र निवासियों की हैसियत से रहने का अधिकार था।

फिर उनके पीछे पीछे वणिक और व्यापारी वहां पहुंचे। गोरे उन सबको अछूत समझकर अपमानभाव से उन्हें देखते थे और जीवन में उनका स्थान चाहे जो हो, उनको अपमान के साथ कुली या सामी कहते थे। गोरे उनसे देसी कालों से भी अधिक नफरत करते थे। इसका आंशिक कारण यह था कि ये हिंदुस्तानी भी 'रंगदार' थे। लेकिन इससे बड़ा कारण यह था कि हिंदुस्तानी उद्यमी और मितव्ययी थे और इसलिए खेती हो या व्यापार हो, गोरे उनकी प्रतियोगिता को अपने लिए भारी खतरा समझते थे। बरसों बाद लियानेल कर्टिस ने गांधी जी के सामने स्वीकार किया था : 'इस देश के यूरोपीय हिंदुस्तानियों की बुराइयों से नहीं, उनके गुणों से डरते हैं।'

युवक बैरिस्टर को ये सारी बातें धीरे धीरे पता चलीं। इस बीच वहां पहुंचने के दूसरे या तीसरे दिन ही उनको अपमान का पहला अनुभव करना पड़ा जब उनका मेजबान उनको डरबन की अदालत में ले गया। 'मैजिस्ट्रेट मुझे घूरता रहा और आखिर उसने मुझसे अपनी पगड़ी उतारने को कहा। मैंने ऐसा करने से इनकार कर दिया और अदालत से बाहर निकल गया।' अपने राष्ट्रीय शिरोवस्त्र के इस अपमान के विरोध में गांधी ने पत्र-पत्रिकाओं को इस घटना के बारे में लिखा और अदालत में पगड़ी पहनने के अधिकार की पैरवी की। समाचारपत्रों में इस प्रश्न पर बहस चली और उन्होंने इस नवागंतुक को 'अनचाहा मेहमान' करार दिया।

इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में आने के साथ ही इस 'अनचाहे मेहमान' ने एक प्रकार की ख्याति प्राप्त कर ली। लगता था कि भाग्य ने काफी इंतजार किया था और अब वह बिना किसी और अगर-मगर या दुराव-छिपाव के गांधी जी की परीक्षा लेने के लिए बेचैन था। कारण कि अब घटनाएं बड़ी तेजी के साथ घटित होने लगीं।

एक सप्ताह के निवास के बाद गांधी जी के मुवक्किल ने उनके प्रिटोरिया जाने का बंदोबस्त कर दिया जो ट्रांसवाल के पड़ोसी बोअर गणराज्य की राजधानी था। यहां एक मुकदमे में उनकी मौजूदगी जरूरी थी। उनके लिए पहले दर्जे का एक टिकट खरीदा गया। शाम के नौ बजे के करीब जब गाड़ी नेटाल की राजधानी मेरित्जबर्ग पहुंची तो गाड़ी में एक गोरा यात्री सवार हुआ। उसने डिब्बे में एक 'रंगदार' आदमी की मौजूदगी पर एतराज किया। रेलवे का एक अधिकारी बुलाया गया और उसने गांधी जी को सामान वाले डिब्बे में चले जाने का आदेश दिया।

जब गांधी जी ने ऐसा करने से इनकार कर दिया तो एक कांस्टेबिल ने उनको धक्का देकर बाहर निकाल दिया। उनका सामना रेलवे के अधिकारियों ने जब्त कर लिया।

जाड़े के दिन थे और कड़ाके की सर्दी थी। गांधी जी का ओवरकोट उनके सामान के साथ ही जब्त हो गया था और उनमें उसे मांगने की हिम्मत नहीं थी। इसलिए वे अंधेरे प्रतीक्षालय में बैठकर पूरी रात कांपते और सोचते रहे : 'मैं अपने अधिकारों के लिए लड़ूं या वापस भारत चला जाऊं ?'

वर्षों बाद अमरीकी मिशनरी डा. जान मोट जब मध्य भारत स्थित सेवाग्राम आश्रम में गांधी जी से मिले तो उन्होंने पूछा : 'आपके जीवन के सबसे रचनात्मक अनुभव क्या रहे हैं ?' गांधी जी का जवाब था : 'ऐसे अनुभव अनेकों हैं। लेकिन आपने यह सवाल मुझसे पूछा है तो मैं एक अनुभव बतलाता हूं जिसने मेरे जीवन की धारा को बदल दिया।' तब उन्होंने मेरित्जबर्ग की घटना सुनाई।

इस दुखद दृश्य को याद करते हुए गांधी जी ने आगे कहा : 'अब यहीं रचनात्मक अनुभव होता है। मैं अपने जीवन के बारे में ही भयभीत था। मैं अंधेरे प्रतीक्षालय में घुसा। कमरे में एक गोरा व्यक्ति मौजूद था। मैं उससे भयभीत था। मैंने खुद से पूछा, मेरा कर्तव्य क्या है। मैं वापस भारत चला जाऊं या ईश्वर को सहायक मानकर आगे बढ़ूं और जो कुछ मेरे भाग्य में है उसका सामना करूं ? मैंने ठहरने और कष्ट उठाने का फैसला किया। मेरी सक्रिय अहिंसा उसी दिन से शुरू हुई।'

लेकिन अभी तो बहुत कुछ होना था। अगली शाम उन्होंने फिर रेल यात्रा की और अबकी बार कोई अप्रिय घटना नहीं घटी। लेकिन चार्ल्सटाउन से जोहान्सबर्ग की यात्रा के दौरान इससे भी अप्रिय घटना उनका इंतजार कर रही थी। यह यात्रा एक बंद बग्घी में की जानी थी। इस यात्रा में गांधी जी को कोचवान के साथ बाहर बक्से पर बिठाया गया जबकि गोरा कंडक्टर, जिसे 'लीडर' कहा जाता था, अंदर गोरे मुसाफिरों के साथ बैठा। बग्घी के चले जाने के डर से गांधी जी ने इस अपमान का घूंट भी पी लिया। रास्ते में 'लीडर' को धूम्रपान की तलब लगी और इसके लिए उसे वह बक्सा चाहिए था जिस पर गांधी जी बैठे हुए थे। उसने पायदान पर एक गंदा झाड़न बिछा दिया और गांधी जी को वहां बैठने को कहा। गांधी जी ने इनकार कर दिया। 'लीडर' गुस्से से तिलमिला उठा, उसने 'कुली' को गंदी गालियां बकीं, उस पर घूंसे बरसाए और उसे नीचे फेंकने की कोशिश करने लगा। गांधी जी ने हताशा में पीतल का डंडा पकड़ लिया और अपनी सीट से हटने के लिए तैयार नहीं हुए। साथ ही वे उत्तेजित होकर जवाबी हमला करने को भी तैयार नहीं थे। कुछ गोरे मुसाफिरों ने इस कायरतापूर्ण हमले का विरोध किया और 'लीडर' को निराश होकर गांधी जी को वहीं छोड़ देना पड़ा जहां

वे थे।

इस प्रकार जीवन के लिए खतरा मोल लेकर भी गांधी जी ने 'नहीं' कहना सीखा। पहले उन्होंने प्रलोभनों से अपने सदाचार की रक्षा के लिए और माता को दिए गए वचन को निभाने के लिए 'नहीं' कहना सीखा था। लेकिन यह 'नहीं' कहीं अधिक गतिशील थी और यही उस निर्भीकता की ठोस बुनियाद बनी जिस पर उनके शेष सभी सद्गुण आधारित थे। छह दशक से भी अधिक समय बाद, महात्मा के देहांत के बाद नेहरू ने कहा था : 'निर्भीकता—हां, मैं कहूंगा कि निर्भीकता ही उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी, और यह तथ्य है कि हड्डियों का यह कमजोर, छोटा-सा ढांचा शारीरिक, मानसिक, हर प्रकार से इस कदर निर्भीक था—यह ऐसी बेपनाह शक्ति थी जो दूसरों को भी व्यापी और उनके भय में कमी का कारण बनी।'

उस अंधे महाद्वीप में अपनी आंखों अपने देशवासियों की दुर्दशा देखने के बाद गांधी जी ने प्रिटोरिया पहुंचकर और अपने मुवक्किल के एजेंटों से आवश्यक संपर्क करने के बाद जो काम सबसे पहले किए उनमें एक काम भरतवंशियों की एक सभा बुलाना था। 'इस सभा में मेरे भाषण को मेरे जीवन का पहला सार्वजनिक भाषण कहा जा सकता है।' इस बार वे हकलाए नहीं, न लड़खड़ाए और न ही शर्म से बैठ गए। उन्होंने अचेतन रूप से अपने अंदर मौजूद साहस का झरना मुक्त कर दिया था—ऐसा स्थायी झरना जिसका पानी फिर कभी उनके लिए नहीं बंद हुआ।

यह भाषण अनेक अर्थों में स्मरणीय था। यह स्मरणीय था क्योंकि यह उस कड़वाहट और क्षोभ से पूरी तरह मुक्त था जो सामान्य पैमानों पर देखें तो उस युवा वक्ता के मन को कचोटते रहे होंगे जिसको इतने अन्यायपूर्ण अपमान और हिंसा का सामना करना पड़ा था। अल्पसंख्यक गोरों के नस्लवादी दंभ की निंदा करने की बजाय उन्होंने भारतीय निवासियों के कर्तव्यों और दायित्वों पर अपने विचार रखे। व्यापार में सच्चाई, निजी आदतों में सफाई, एक-दूसरे का साथ देने का साहस और विशेष धर्मों, जातियों का समुदायों से परे होकर एक होने की भावना—ये ऐसे सद्गुण हैं जिनको सद्गुण समझकर ही विकसित करना चाहिए। लेकिन उनका साहस और निष्ठापूर्ण विकास हिंदुस्तानियों के लिए खास तौर पर आवश्यक है क्योंकि वे एक पराए देश में रह रहे हैं और उनके देश को, उनके देशवासियों को उनके अपने आचार के आधार पर ही परखा जाएगा।

आगे चलकर गांधी जी अकसर कहते थे कि उन्हें शिक्षक बनने की अपेक्षा कुछ भी अधिक प्यारा नहीं था। उनके लिए कोई इतना छोटा नहीं था कि उन्हें शिक्षा न दे सके और कोई इतना बड़ा नहीं था कि उनसे कुछ सीख न सके। उनकी शिक्षावृत्ति एक बहुउद्देश्यी कला थी। वे एक ही साथ, एक ही प्रक्रिया के रूप में

कुछ लिखाते, नैतिक शिक्षा देते, उपदेश देते, प्रचार करते, उत्तेजित और अनुशासित करते थे। प्रिटोरिया में अपने देशवासियों के सामने उनका यह भाषण शिक्षक के रूप में उनकी कला का पहला प्रदर्शन था जिसमें आगे चलकर वे सिद्धहस्त हो गए। अपने गुणों के अनुरूप उन्होंने अपने भाषण का समापन अपने श्रोताओं को यह सलाह देकर किया कि वे संगठन बनाएं, अपनी साझी समस्याओं पर विचार करने के लिए नियमित बैठकें करें और अपने समुदाय की शिकायतों का निरूपण करके उनको अधिकारियों तक पहुंचाएं। उन्होंने उनके लिए अपनी निस्वार्थ सेवाएं पेश कीं और प्रस्ताव रखा कि जो लोग अंग्रेजी सीखना चाहते हैं उनको वे अंग्रेजी पढ़ाएंगे।

हम कह सकते हैं कि गांधी जी के सार्वजनिक जीवन का आरंभ इसी सभा से हुआ। अपनी मानवीय गरिमा के लिए जूझने के साहस के साथ साथ उनके अंदर यह उत्कट भाव भी पैदा हो गया था कि वे दूसरों को अपनी गरिमा का महत्व समझना सिखाएं, उनमें अपनी आस्था और अपने साहस का संचार करें। इस शर्मीले और दब्बू युवक को देखकर उसका डरबन का मुवक्किल हैरान था कि कहीं उसकी फर्म को उसे वकील बनाने की गलत सलाह तो नहीं दी गई थी, लेकिन अब वही युवक लगभग एक ही रात में जनसेवा की भावना से युक्त जननेता बन चुका था। यह रूपांतरण भले ही एकाएक हुआ हो, मगर यह इतना मूलगामी था कि आकस्मिक नहीं हो सकता। भाग्य ने आखिरकार अपना दांव चल ही दिया था।

ट्रांसवाल में हिंदुस्तानियों की हालत नेटाल से भी बुरी थी। उनको तीन पाउंड का व्यक्ति कर (पोल टैक्स) देने पर मजबूर किया जाता था; घेटो समान एक खास इलाके को छोड़कर कहीं भी वे जमीन नहीं खरीद सकते थे; उनको मत देने का अधिकार नहीं था और उनको मुख्य मार्ग पर चलने की इजाजत नहीं थी। न ही उनको एक विशेष आज्ञापत्र के बिना नौ बजे रात के बाद बाहर निकलने की इजाजत थी और इस आज्ञापत्र को उन्हें हमेशा अपने साथ रखना पड़ता था।

लेकिन गांधी जी को स्टेट एटार्नी से एक पत्र प्राप्त हुआ था जिसके अनुसार वे कहीं भी किसी समय जा सकते थे। एक दिन गांधी जी रोजाना की तरह शाम को टहलने निकले थे कि राष्ट्रपति क्रूगर के आवास के बाहर पहरे पर खड़े संतरी ने एकाएक, बिना किसी चेतावनी के उनको फुटपाथ से धक्का दिया और सड़क पर उन्हें लात मारे। संयोग से उधर से एक अंग्रेज क्वैकर श्री कोट्स आ निकले जो गांधी जी को जानते थे और उन्होंने इस कुकर्म को देखा। उन्होंने गांधी जी को सलाह दी कि वे उस आदमी पर मुकदमा करें, और गवाह के तौर पर खुद पेश होने का प्रस्ताव रखा। लेकिन गांधी जी ने इस प्रस्ताव का लाभ लेने से इनकार कर दिया और बोले कि उन्होंने किसी निजी शिकायत को लेकर अदालत में न जाने का सिद्धांत अपना रखा है।

ईसाई संपर्कसूत्र

श्री कोट्स गांधी जी के ऐसे ईसाई मित्रों में थे जिनसे उन्होंने प्रिटोरिया में अबदुल्ला सेठ के एटार्नी श्री बेकर के माध्यम से परिचय प्राप्त किया था। वे सभी आस्थावान और उत्साही भक्त थे जो गांधी जी को अपनी प्रार्थना सभाओं में ले जाते और उनकी आत्मा के कल्याण के लिए प्रार्थना करते थे : 'प्रभु, हमारे इस नए बंधु को रास्ता दिखा जो हमारे बीच में आया है। इसे वही शांति दे प्रभु, जो तूने हमें दी है। हमारी रक्षा करने वाला प्रभु यीशु इसकी रक्षा भी करे।' उन्होंने गांधी जी को पुस्तकें पढ़ने के लिए दीं जिनको उन्होंने मन लगाकर पढ़ा।

एक दिन गांधी जी के गले में तुलसी के मनकों की माला देखकर श्री कोट्स हतप्रभ रह गए। उन्होंने कहा : 'यह अंधविश्वास तुम्हें शोभा नहीं देता। आओ, मैं यह माला तोड़ दूं।'

'नहीं, आप नहीं तोड़ेंगे।' गांधी जी बोले, 'यह मेरी मां का पवित्र उपहार है।'

'मगर तुम क्या इसमें विश्वास रखते हो ?'

'मैं इसके रहस्यमय महत्व को नहीं जानता।' गांधी जी ने जवाब दिया, 'मैं नहीं समझता कि मैं इसे पहनूं तो मेरा कोई नुकसान होगा। लेकिन उचित कारण के बिना मैं इस माला को नहीं छोड़ सकता जिसे उन्होंने प्यार से मेरे गले में इस विश्वास से डाली थी कि यह मेरा कल्याण करेगी। समय के साथ जब यह घिस जाएगी और अपने-आप टूट जाएगी तो मैं किसी नई माला की इच्छा नहीं करूंगा। लेकिन इस माला को नहीं तोड़ा जा सकता।'

सचमुच जब वह माला टूटी तो उन्होंने कोई और माला नहीं पहनी।

गांधी जी का परिचय श्री कोट्स के माध्यम से प्लाइमाउथ के एक 'ब्रदर' के साथ हुआ और उसने उनको आगे-पीछे के सभी पापों के एक बने-बनाए पापमोचन का लालच देना चाहा। उसने गांधी जी से कहा : 'पाप तो हम करते ही हैं। पाप किए बिना दुनिया में रहना नामुमकिन है। इसलिए प्रभु यीशु ने कष्ट उठाए और पूरी मानवता के पापों का प्रायश्चित किया। केवल वह व्यक्ति शाश्वत शांति पा सकता है जो उनकी महान पापमुक्ति को स्वीकार करे।' लेकिन गांधी जी के लिए इस प्रकार का प्रलोभन कोई आकर्षण नहीं रखता था। उन्होंने विनम्रता

से उत्तर दिया : 'मैं अपने पापों के परिणामों से मुक्ति नहीं पाना चाहता। मैं स्वयं पाप से बल्कि पाप के विचार से ही मुक्ति पाना चाहता हूं। जब तक मुझे वह लक्ष्य नहीं मिलता, मैं बेचैनी में ही संतोष का अनुभव करूंगा।'

और वे सत्य की खोज में अंत तक बेचैन रहे।

पर इन तमाम बातों के बावजूद उनके ईसाई दोस्तों ने और बाइबिल के अध्ययन ने उनके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा। खासकर ईसा मसीह का व्यक्तित्व पूरे जीवन भर उनको आकर्षित करता रहा। कई साल बाद जब उन्होंने जोहान्सबर्ग में एक दफ्तर खोला तो ईसा का एक खूबसूरत सिर हमेशा उनकी मेज के ऊपर दीवार पर सजा रहता था। एक दिन उन्होंने श्रीमती पोलक से दिल की बात कही : 'एक बार मैंने सचमुच गंभीरता से ईसाई धर्म स्वीकार करने की बात सोची थी। ईसा का वह सौम्य, इतना धीर, इतना दयालु, इतना प्रेमविह्वल, क्षमा-भावना से इस तरह भरा हुआ व्यक्तित्व जिसने अपने शिष्यों को समझाया कि गाली सुनकर या मार खाकर जवाब न दो बल्कि दूसरा गाल भी आगे कर दो—मैं समझता था कि संपूर्ण मानव का एक सुंदर उदाहरण है।'

'लेकिन आपने ईसाई धर्म को स्वीकार नहीं किया, या किया ?' श्रीमती पोलक ने पूछा।

'नहीं।' गांधी जी ने सोच में मगन होकर जवाब दिया, 'मैं कुछ समय तक आपके धर्मग्रंथों को पढ़ता और उन पर संजीदगी से विचार करता रहा। मैं ईसाई धर्म की ओर बहुत अधिक आकर्षित था। लेकिन मैं आखिरकार इस नतीजे पर पहुंचा कि आपके धर्मग्रंथों में वास्तव में ऐसा कुछ नहीं है जो हमारे धर्मग्रंथों में नहीं है और इसलिए एक अच्छा हिंदू बनने का मतलब यह होगा कि मैं एक अच्छा ईसाई भी हूंगा। ईसा की शिक्षाओं की सुंदरता में विश्वास करने या उनके रास्ते पर चलने की कोशिश करने के लिए मुझे आपके धर्म को अपनाने की कोई जरूरत नहीं थी।'

उन्होंने आगे कहा : 'अगर कोई व्यक्ति अपने धर्म की तह तक पहुंच जाए तो वह दूसरे धर्मों की तह तक भी पहुंच जाता है। ईश्वर एक ही है लेकिन उस तक पहुंचने के रास्ते अनेक हैं।'

अपने आरंभिक ईसाई संपर्कों की चर्चा करते हुए अनेक वर्ष बाद गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा था : 'हालांकि मैंने ऐसा रास्ता पकड़ा जो मेरे ईसाई दोस्त मेरे लिए नहीं सोचते थे, लेकिन उन्होंने मेरे अंदर जो धार्मिक जिज्ञासा जगाई उसके लिए मैं हमेशा इनका ऋणी रहा हूं। उनके संपर्क की यादें हमेशा मेरे दिल में बनी रहेंगी।'

लेकिन उनके कुछ ईसाई प्रशंसकों ने उनको अपने झुंड में शामिल करने की आशा कभी नहीं छोड़ी। कभी कभी वे नामुनासिब तौर पर अकड़ जाते या पीछे

पड़ जाते थे। तब गांधी जी उनको उनके अंध-उत्साह के लिए झिड़क देते थे। 1932 में (जब गांधी जी यरवदा जेल में थे) तो एक भारतीय ईसाई महिला ने उनको विश्वास दिलाने की कोशिश की कि ईसा ही दुनिया के एकमात्र त्राता हैं। तब उन्होंने जेल से पत्र का जो उत्तर दिया था उसमें उन्होंने ऐसी ही झिड़की दी थी। महात्मा का उत्तर था : 'मैं आपके उत्साह की प्रशंसा करता हूं। लेकिन मैं आपकी बुद्धिमता पर आपको बधाई नहीं दे सकता। मेरी पैंतालीस वर्षों की प्रार्थना और ध्यान ने न केवल मुझको उस विश्वास से खाली कर दिया है जो आप अपने में पाती हैं बल्कि मुझे पहले से अधिक विनम्र बना दिया है। मेरी प्रार्थना का प्रत्युत्तर साफ और जोरदार है कि ईश्वर किसी बक्से में बंद नहीं है कि उसमें एक छोटा सा सुराख करके उस तक पहुंचा जाए बल्कि वह इतना सुलभ है कि विनम्र और शुद्धहृदय लोग उस तक अरबों रास्तों से पहुंच सकते हैं। मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप उस ऊंचाई से उतरें जहां आपने अपने सिवा किसी और के लिए जगह नहीं छोड़ी है।'

अक्सर-बेशतर वे ऐसे दुराग्रहों को सहृदयता और मनोविनोद की भावना से ग्रहण करते थे। अपनी पुस्तक **लीव्ज फ्राम दि जंगल** में मिशनरी और मानवशास्त्री वेरियर एल्विन लिखते हैं कि जब गांधी जी यरवदा जेल से निकलने के बाद स्वास्थ्य-लाभ कर रहे थे तब एल्विन के पूना के मेजबान की माता "जो बहुत बूढ़ी हैं, पिछले रोज बापू को देखने गई थीं और उन्होंने उनको ईसाई बनाने की कोशिश की थी। सिर से पैर तक आभायमान बापू ने उनके चेहरे को अपने हाथों में ले लिया और बोले, 'मेरी प्यारी और छोटी-सी, नब्बे साल की अद्भुत मिशनरी, अगर ईश्वर मुझे तुम्हारे रास्ते पर ले ही जाना चाहता है तो वह मुझे ले ही जाएगा'।"

लंदन में छात्र-जीवन के दिनों से ही गांधी जी ने विभिन्न धर्मों का, अपने तथा साथ ही अन्य ईसाई, बौद्ध और इस्लाम धर्मों का सायास अध्ययन आरंभ कर दिया था। उसके बाद उनका यह बुनियादी दृष्टिकोण कभी नहीं बदला कि उन सबमें जो कुछ सर्वोत्तम है उसका समान आदर किया जाए, हालांकि समय बीतने के साथ उनके बारे में गांधी जी की समझ और गहरी हुई। महत्व तो आंतरिक भावना का है जो सबमें एकसमान था। बाहरी रूप कोई खास महत्व नहीं रखता बल्कि एक बाधा भी बन सकता है जिसे छलांगकर पार करना होगा और वहीं तब आस्था की सच्ची परीक्षा होगी।

वेरियर एल्विन को (यरवदा जेल से ही) लिखे गए एक पत्र में गांधी जी ने अपने खास लहजे में यही बात बड़े सटीक ढंग से कही थी। एल्विन ने शिकायत की थी कि एक बिशप ने उनको ईसाइयत का गद्दार कहा था और उनको गिरजाघरों में प्रवचन करने नहीं दे रहा था। गांधी जी ने लिखा : "काश कि बिशप जो कुछ कहता रहा है उस पर आप ध्यान न दें। आपका गिरजा आपके हृदय में है। पूरी

पृथ्वी आपकी मिंबर (प्रवचन का चबूतरा) है। नीला आसमान आपके गिरजाघर की छत है। और यह कैथोलिक मत है क्या ? निश्चित ही यह हृदय की वस्तु है। इस सूत्र की अपनी उपयोगिता है। लेकिन यह मनुष्य का बनाया हुआ है। धार्मिक वार्ताओं में ईसा का जो कुछ संदेश मिलता है, अगर मुझे उसकी व्याख्या का कुछ भी अधिकार है तो मेरे मन में इसके बारे में कोई शक नहीं कि गिरजाघर चाहे रोमन हों या इंग्लिश हों, उच्चस्थ हों या निम्नस्थ हों, उनमें उस संदेश का अधिकतर निषेध ही किया जाता है। उन स्थानों पर लैजरस की कोई पूछ नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि ठेकेदार जानते हैं कि ईश्वर के घर कहे जानेवाले भवनों से दुखी मानव को निष्कासित कर दिया गया है। मेरे विचार में आपका निष्कासन इस बात की सबसे पक्की पहचान है कि सत्य आपके अंदर और आपके साथ है। लेकिन अगर आप अपने रचयिता के साथ अकेले हों और आपको उसकी आवाज यह कहते सुनाई न दे कि 'तुम सही रास्ते पर हो' तो मेरी यह गवाही ध्यान देने योग्य है। यही सबसे सच्ची परीक्षा है, और कोई नहीं।''

गांधी जी अपने खुद के धर्म की अनेक कट्टरताओं को खारिज करने में और अधिक कठोर थे। उन्होंने 1921 में लिखा था : 'हिंदू धर्मग्रंथों में मेरा विश्वास इसकी मांग नहीं करता कि मैं उनके एक एक शब्द और एक-एक श्लोक को ईश्वर की वाणी मान लूं। कोई भी व्याख्या, चाहे वह कितनी ही पांडित्यपूर्ण हो, अगर बुद्धि या नीति की भावना की विरोधी है तो मैं उसको स्वीकार करने से इनकार करता हूं।' इस बारे में स्मरणीय है कि गांधी जी के पहले राजा राममोहन राय, जो खुद भी अपने ढंग से अत्यधिक सहिष्णुता और अत्यधिक रूढ़िविरोध के समन्वय थे, अनुमोदन के साथ एक वाक्य कहते थे जिसे प्राचीनकाल के ऋषि वशिष्ठ का कथन बताया जाता है : 'अगर बच्चा भी कोई बुद्धिसंगत बात कहे तो उसे स्वीकार करना चाहिए लेकिन अगर स्वयं ब्रह्म भी कोई अबुद्धिसंगत बात कहे तो उसे तिनके का टुकड़ा जानकर छोड़ देना चाहिए।

वकील और देशभक्त

अगर दूसरों से परिष्कार की भावना और धार्मिक संवादों में रुचि गांधी जी को उस प्रमुख सरोकार से विमुख कर देती जो उनको प्रिटोरिया ले गया था तो फिर वे गांधी नहीं रहते। उनका पहला कर्तव्य उनके मुवक्किल के प्रति था जिसने उनको राजकोट की दुखद स्थिति से निकाला और इतनी दूर ले आया था।

गांधी जी ने कानूनी पेशे की पेचीदगियों का कुछ अधिक ज्ञान न तो लंदन में कानून के छात्र के रूप में प्राप्त किया था और न ही बंबई में ऐसे बैरिस्टर के रूप में जिसकी कोई पूछ नहीं थी। इसके अलावा एक पेचीदा मुकदमे में बही-खाता और कारोबार का लेखा रखने के जो रहस्य गुंथे होते हैं उनसे वे पूरी तरह अनजान थे। लेकिन वे न तो कामचोर थे और न नीरसता से डरते थे। इसलिए उनको यह सब सीखने में देर नहीं लगी। इस प्रक्रिया में उन्होंने दो खोजें कीं। एक तो यह कि तथ्य कानून का तीन-चौथाई होते हैं और दूसरे यह कि मुकदमेबाजी झगड़े के दोनों पक्षों को तबाह करती है और इसलिए वकील का कर्तव्य यह है कि अदालत से बाहर उनमें सुलह कराए। इस युवा बैरिस्टर ने इस विशेष मुकदमे में, जो उसके कानूनी पेशे का पहला बड़ा मुकदमा था, अपने मुवक्किल और विरोधी पक्ष, दोनों को राजी कर लिया कि वे मध्यस्थता स्वीकार करें। 'मेरी खुशी की कोई इंतिहा नहीं रही। मैंने कानून का सच्चा पेशा सीख लिया था। मैंने मानव-स्वभाव के रौशन पहलू को तलाश करना और मनुष्यों के दिलों में प्रवेश करना सीख लिया था।'

प्रिटोरिया में अपना काम पूरा करने के बाद गांधी जी डरबन लौटे और घर वापस आने की तैयारी करने लगे। तब उनके मुवक्किल ने उनके सम्मान में एक विदाई पार्टी दी। यहां उन्होंने एक स्थानीय पत्रिका में एक खबर पढ़ी जो नेटाल धारासभा में पेश एक विधेयक के बारे में थी। यह हिंदुस्तानियों को मताधिकार से वंचित करने का एक विधेयक था।

उस समय मौजूद कानून के मुताबिक केवल 250 हिंदुस्तानियों को मताधिकार प्राप्त था जबकि ऐसे अधिकार रखनेवाले यूरोपीय लगभग 10,000 थे। प्रस्तावित विधेयक का उद्देश्य इन मुट्ठी भर हिंदुस्तानियों को भी उनके चुनावी अधिकारों से वंचित करना था जो उन्हें अन्यथा संपत्ति का स्वामी होने या कर देने

के कारण प्राप्त थे। वे इसलिए अपात्र ठहराए जानेवाले थे कि वे हिंदुस्तानी थे।

गांधी जी ने इस विधेयक के खतरनाक निहितार्थों को फौरन समझ लिया जिसे वहां मौजूद दूसरे लोगों ने न तो देखा, न समझा था। उन्होंने उन सबसे कहा कि यह विधेयक 'हमारी ताबूत की पहली कील है।' उन्होंने उनको जोरदार मशविरा दिया कि वे एकजुट कार्यवाही के द्वारा इसके पारित होने का विरोध करें। लेकिन उन्होंने कहा कि उनके मार्गदर्शन के बिना वे असहाय हैं। फिर वे गोया एक आवाज में उनसे प्रार्थना करने लगे कि वे कम से कम एक माह और ठहर जाएं और विधेयक का विरोध आयोजित करने में मदद दें। वे उनकी फीस देने के बारे में जरूरत से ज्यादा ही उत्सुक थे।

गांधी जी उनके आग्रह का प्रतिरोध नहीं कर सके और उन्होंने महसूस किया कि उनके मार्गदर्शन के बिना वे लोग कहीं के नहीं रहेंगे। उन्होंने एक माह ठहरने की बात मान ली लेकिन अपनी सेवाओं के बदले कोई मेहनताना लेने से इनकार कर दिया। 'सार्वजनिक कार्य की कोई फीस नहीं हो सकती। मैं ठहरूंगा भी तो एक सेवक के रूप में ठहरूंगा।' अब वे एक एक करके ऐसे मार्गदर्शक सिद्धांत निर्धारित करने लगे जो न केवल उनके अपने सार्वजनिक आचरण के नियम बन गए, बल्कि वहां और भारत में भी निस्वार्थ जनसेवकों की एक पूरी पीढ़ी को प्रेरित करते और सहारा देते रहे।

तब उन्होंने शायद ही यह महसूस किया हो कि यह एक महीना और कुछ नहीं बल्कि ऐसा छलावा था जो उनको जीवनभर जनसेवा का व्रत लेने के लिए फुसला रहा था। आगे उन्होंने इस घटना को याद करते हुए लिखा : 'इस प्रकार दक्षिण अफ्रीका में ईश्वर ने मेरे जीवन की बुनियाद रखी और राष्ट्रीय स्वाभिमान के लिए संघर्ष के बीज बोए।'

इस बीच गांधी जी सीधे लड़ाई में कूद पड़े और उनको सौभाग्य से कोई ज्ञान नहीं था कि उनके लिए क्या जाल बिछाया जा रहा था। शुरुआती तामझाम और शेखी में समय और ऊर्जा गंवाए बिना उन्होंने वहीं विदाई पार्टी को ही एक कार्यवाही समिति का रूप दे दिया। रातोंरात एक अर्जी तैयार की गई, उसकी प्रतियां तैयार की गईं और 500 हस्ताक्षर लिए गए। फौरन प्रधानमंत्री और धारासभा के अध्यक्ष को तार भेजकर प्रार्थना की गई कि प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किए जाने तक इस विधेयक पर विचार-विमर्श रोक दिया जाए। अगली सुबह इस प्रार्थनापत्र को समाचरपत्रों में व्यापक प्रचार मिला। लेकिन विधेयक पारित कर दिया गया।

इससे हतोत्साहित हुए बिना गांधी जी एक और प्रार्थनापत्र तैयार करने लगे। यह प्रार्थनापत्र ब्रिटिश उपनिवेश सचिव लार्ड रिपन के नाम था। एक पखवाड़े में दस हजार हस्ताक्षर प्राप्त किए गए और यह भारी-भरकम प्रार्थनापत्र इंग्लैंड भेज

दिया गया। इसकी एक हजार प्रतियां छापी गईं तथा इंग्लैंड और भारत में बड़े पैमाने पर बांटी गईं। लंदन के पत्र **टाइम्स** ने भारतीयों के दावे को न्यायपूर्ण बतलाया। भारत की जनता को दक्षिण अफ्रीका में रह रहे अपने देशवासियों के कष्टों और अपमानों का पहली बार पता चला।

इस प्रार्थनापत्र के बाद गांधी जी ने उस भारतीय नेता कों एक निजी पत्र भेजा जिनकी वे उस समय सबसे अधिक प्रशंसा करते थे। ये थे दादाभाई नौरोजी जो ब्रिटिश संसद के सदस्य थे। गांधी जी ने लिखा : 'अगर प्रेषक की सूचना सही है तो एटार्नी-जनरल श्री एस्कोंब ने इस आशय की रिपोर्ट दी है कि विधेयक को पारित करने का एकमात्र उद्देश्य एशियावासियों को देसी लोगों के शासन पर नियंत्रण स्थापित करने से रोकना है। लेकिन वास्तविक कारण मात्र यह है। वे हिंदुस्तानियों को इस तरह अपात्र बना देना चाहते हैं और उनको इस प्रकार अपमानित करना चाहते हैं कि उपनिवेश में रहना उनके लिए संभव न रहे। लेकिन फिर भी वे हिंदुस्तानियों से पूरी तरह पीछा छुड़ाना नहीं चाहते। वे निश्चित ही ऐसे हिंदुस्तानियों को नहीं चाहते जो अपने साधनों के साथ आएं, और उन्हें करारबंद हिंदुस्तानियों की बुरी तरह जरूरत है; लेकिन अगर संभव हो तो वे चाहते हैं कि करारबंद हिंदुस्तानी करार की अवधि पूरी होने के बाद भारत लौट जाएं। कितनी पूर्ण, सिंह-समान भागीदारी है यह ! वे अच्छी तरह जानते हैं कि वे यह काम एक ही बार में नहीं कर सकते, और इसलिए उन्होंने मताधिकार विधेयक से अपना काम शुरू किया है। वे इस सवाल पर अपने देश की सरकार की भावना जानना चाहते हैं।' इस प्रकार सार्वजनिक जीवन के आरंभ में ही गांधी जी ने सूक्ष्म राजनीतिक अंतःदृष्टि का और विरोधी के मन की गहरी समझ का परिचय दिया। राजनीतिक अंतःदृष्टि, व्यक्तियों की यह गहरी समझ और समझौताविहीन आदर्शवाद का यही दुलर्भ समन्वय था जिसने उन्हें महात्मा बनाया।

अभी तक इस बेकार और बेपूछ बैरिस्टर को हताश और कुंठित होकर राजकोट का घर छोड़े मुश्किल से 15 महीने बीते थे। इसी छोटे से अर्से में यह शर्मीला और दब्बू युवक, जो मुंबई में एक मामूली से मुकदमे में बचाव पक्ष की पैरवी करने उठा तो उसका सिर घूमने लगा था और जो निरीह भाव से अपने भाई की बातें माना करता था, एक दूर-दराज, अनजान और गैरदोस्ताना देश में अपने देशवासियों का नेता बन चुका था। उसने खुद को बुरी तरह अकेला पाया। उसकी आत्मा की गरिमा के लिए एक खतरनाक चुनौती उसके सामने थी। खतरों की घड़ी का यही अकेलापन था, बदतरीन का सामना करने या दुबककर जान बचाने के बीच यही निर्मम चुनाव था जिसने उसके अंदर के आदमी को जगाया। वह आग से होकर गुजरा और भय की खोट से मुक्त, खरा होकर निकला। वास्तव में यही उसके जीवन के तमाम भावी संकटों का ढर्रा बन गया। अकेला और खतरों में घिरा

होने पर उसके अंदर का श्रेष्ठतम तत्व सामने आता रहा।

लगता था कि अब उसके विचार पूरी तरह परिपक्व हो चुके हैं। उसकी दुर्दमनीय और अनन्य इच्छाशक्ति, स्वतंत्र और दूरदर्शितापूर्ण निर्णय की क्षमता, लोकसेवा की अनथक उत्साही भावना, उसकी सूझ-बूझ और संगठन की क्षमता अब इस तरह सामने आई कि पहले उसका अंदाजा तक नहीं किया जा सकता था। गोया कि उसकी आत्मा की बंद कली ने अपनी पंखड़ियां खोल दी थीं।

यह रूपांतरण किसी भी तरह तात्कालिक नहीं था। न ही इसके साथ योगियों का कोई उद्वेग या पैगंबराना संदेश जुड़ा हुआ था जिसका दावा अक्सर संतों और पैगंबरों के सिलसिले में किया जाता है। तो भी यह रूपांतरण इतना उल्लेखनीय था कि केवल बाहरी प्रभावों से इसकी व्याख्या कर सकना कठिन है। इसकी बेहतर उपमा यह हो सकती है कि एक खोल टूटा और ऐसी शक्ति निकलकर सामने आई जो अभी तक दबी और सोई पड़ी थी और अब अपने को जागृत करने लगी थी।

लगभग वे सभी गुण जिनके अनोखे मिश्रण ने उनको बाद में महात्मा बनाया, अब इस गंभीर और उत्साही वकील और नेता में धुंधले रूप में देखे जा सकते थे जो धीर और अपराजेय था, जो कभी बहलाता-हंसाता और कभी नेतृत्व करता था, जो प्रार्थनापत्र तैयार करता और स्वयंसेवक भरती करता था। ये गुण अभी धुंधले ही रूप में देखे जा सकते थे, पूरी तरह खुलकर सामने नहीं आए थे। अभ्यास तो अभी भी बाकी था।

बंधन

एक महीने की वह अवधि जब गांधी जी ने अपना घर लौटने का कार्यक्रम स्थगित कर रखा था, अब समाप्त होने के करीब पहुंच रही थी। लेकिन भारतीय समुदाय उन्हें जाने देने को तैयार नहीं था। उन्होंने उनको कर्म करते देखा था और उनके नेतृत्व के प्रशंसक थे। वे उनसे बिछड़ने का जोखिम नहीं उठा सकते थे। उन्होंने अधीर होकर उनसे रुकने और अभियान को उसकी सफलता तक पहुंचाने की प्रार्थना की। जो फीस वे लेना चाहें, वह भी देने के लिए वे तैयार थे।

गांधी जी लोकसेवा के लिए कोई पारिश्रमिक लेने को तैयार न थे। लेकिन यह समझने की व्यवहारबुद्धि अवश्य उनमें थी कि अगर उनको दक्षिण अफ्रीका में और आगे रुकना है तो ऐसी स्थिति होनी ही चाहिए कि कानूनी पेशे से जीविका कमा सकें। चूंकि ऐसी जीवन शैली आवश्यक थी जो एक बैरिस्टर की शोभा के अनुरूप हो, इसलिए वे 300 पाउंड सालाना से कम में शायद ही काम चला पाते। लेकिन मौके पर मौजूद कुछ व्यापारियों ने उनकी कानूनी सेवाओं और सहायता के प्रतिधारण शुल्क के रूप में फौरन उन्हें इस मामूली सी आमदनी की जमानत दे दी।

गांधी जी के पास राजी होने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचा। वे ऐसे ध्येय को नहीं छोड़ सकते थे जिसे उन्होंने यूं कह लीजिए कि खुद ही उठाया था। न ही वे उन उत्साही मगर अनुभवहीन कार्यकर्ताओं के दल को निराश कर सकते थे जिनको उन्होंने भरती और प्रेरित किया था। इस नैतिक मजबूरी के आगे वे असहाय थे। भविष्य की तरह यहां भी वे इस प्रकार तभी खुद को असहाय महसूस करते थे जब उनकी अपनी अंतरात्मा उनकी निगरानी करती हो, उकसाती और झिड़कती हो और एक प्रकार से ब्लैकमेल करती हो। भाग्य एक एक कदम करके, कभी फुसलाकर और कभी धक्का देकर उनको आगे ले गया था और ऐसी जगह लाया था जहां वे पूरी तरह बंधन में जकड़ चुके थे।

यह फैसला करने के बाद गांधी जी ने नेटाल के सर्वोच्च न्यायालय में वकील के रूप में प्रवेश की अनुमति मांगी। एक काले सदस्य के आने की संभावना से हतप्रभ ला सोसायटी ने उनके प्रवेश का विरोध किया। जो क्षेत्र अभी तक गोरों की इजारेदारी में था उसमें एक कुली वकील अतिक्रमण कर रहा था; यह ऐसी

धृष्टता थी जिसकी पहले कोई मिसाल नहीं थी। सौभाग्य से ब्रिटिश कानून की परंपराओं का सम्मान करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने इस आपत्ति को रद्द कर दिया और गांधी जी बाकायदा पंजीकृत कर लिए गए। उनको बस इतनी छूट देनी पड़ी कि पगड़ी छोड़नी पड़ी।

'मैंने अपनी सीमाओं को पहचाना। जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में जिस पगड़ी के पहनने पर मैंने जोर दिया था उसी को मैंने सर्वोच्च न्यायालय के आदेश का पालन करते हुए उतार दिया। ऐसा नहीं है कि अगर मैंने इस आदेश का विरोध किया होता तो वह विरोध उचित नहीं होता। लेकिन मैं और भी बड़ी लड़ाइयां लड़ने के लिए अपनी शक्ति को बचाकर रखना चाहता था।'

एक और बड़ी लड़ाई सचमुच बहुत दूर नहीं थी। वे इसका समय आते देख रहे थे। फौजों को भरती और प्रशिक्षित करना आवश्यक था। अब वे बिखरे, भेदों से भरे भारतीय समुदाय को एक अनुशासित और सुगठित संगठन का रूप देने में लग गए। 'वकील का पेशा मेरे लिए गौण व्यवसाय था और रहा।' उन्होंने अपने देश के मूल संगठन भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सम्मान में इस नए संगठन का नाम नेटाल भारतीय कांग्रेस रखा। यह वही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस थी जिसकी उसी साल आयोजित लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता उनके आदर्श पुरुष दादाभाई नौरोजी ने की थी।

सौभाग्य की बात यह थी कि गांधी जी मूल संगठन के नाम को छोड़कर उसके बारे में कुछ नहीं जानते थे। इसलिए वे अपने ढंग से नेटाल भारतीय कांग्रेस का संविधान करते और उसके कार्यकलाप की योजना बनाने में सफल रहे ताकि यह कारगर ढंग से रोजमर्रा की गतिविधियां चलाने में समर्थ एक सक्रिय संगठन बन सके। इस प्रकार उन्होंने अपने संगठन को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से, अर्थात वर्षों बाद गांधी जी द्वारा नेतृत्व संभालने से पहले के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से कहीं बहुत अधिक कारगर साधन बनाया। उन्होंने संगठन की एक एक बात पर ध्यान दिया और खुद समिति के नियम बनाए। इन नियमों में दो नियम दिलचस्पी से खाली नहीं हैं : कोई सदस्य दूसरे किसी सदस्य को उसके नाम में 'मिस्टर' जोड़े बिना संबोधित नहीं कर सकता था, और किसी को धूम्रपान की इजाजत नहीं थी।

इस प्रकार गठित नेटाल भारतीय कांग्रेस में वे ही सदस्य बन सकते थे जो उसका खर्च अदा करें। इसलिए यह संगठन लाजमी तौर पर नेटाल के अपेक्षाकृत खुशहाल मध्यवर्गीय भारतीय निवासियों तक अर्थात व्यापारियों, क्लर्कों और उसी उपनिवेश में जन्मे स्वतंत्र भारतीयों तक सीमित था। इसके दायरे से करारबंद मजदूर बाहर ही रहे जो भारतीय समुदाय में बहुसंख्यक थे। वे इतने गरीब, अज्ञानी और अलग-थलग थे कि इसके अस्तित्व तक से परिचित नहीं थे। उनके कल्याण के प्रति गांधी जी के मानवीय सरोकार और उनके हितों की खुली पैरवी ने ही अंततः उनको

कांग्रेस के दायरे में खींचा।

'मुझे वकालत करते मुश्किल से तीन या चार महीने हुए थे और कांग्रेस अभी अपनी शैशवावस्था में थी कि एक तमिल व्यक्ति कांपते और रोते हुए मेरे सामने आया। उसके कपड़े फटे हुए थे, पगड़ी हाथ में थी, आगे के दो दांत टूटे हुए थे और उसके मुंह से खून बह रहा था। उसको उसके मालिक ने बुरी तरह पीटा था।' बालासुंदरम के मुकदमे में गांधी जी की कड़ी और सफल पैरवी की खबर जल्द ही नेटाल के हर करारबंद मजदूर के कानों तक पहुंच गई 'और मुझे उनका दोस्त समझा जाने लगा। मैंने आनंद की भावना से इस संबंध को स्वीकार किया।'

बालासुंदरम गांधी जी के दफ्तर में आया तो उसकी 'पगड़ी उसके हाथ में' थी। इस तथ्य ने गांधी जी को अपने पिछले अपमान की दुखद याद दिलाई जब उनको अदालत में पगड़ी उतारने को कहा गया था। गोरा आदमी ईश्वर के घर में जाता था तो नंगे सिर जाता था। ताज्जुब नहीं कि अपनी मौजूदगी में किसी हिंदुस्तानी को नंगे सिर कराकर नेटाल का गोरा अपने खुद के देवत्व का अतिरिक्त आश्वासन पाता हो। ''बालासुंदरम ने सोचा कि उसे मेरे सामने भी इस प्रथा का पालन करना चाहिए...मुझे अपमान का अनुभव हुआ और मैंने उसे पगड़ी बांधने को कहा। उसने ऐसा किया हालांकि कुछ हिचक उसे अवश्य हुई। लेकिन मैं उसके चेहरे के आनंद को देख सकता था।'

इस घटना को याद करते हुए महात्मा ने दुखी होकर कहा था : 'लोग किस तरह अपने साथ के लोगों को अपमानित करके खुद सम्मानित होने का अनुभव करते हैं, यह मेरे लिए हमेशा ही एक रहस्य रहा है।'

उपनिवेश सचिव के नाम गांधी जी का पत्र आखिर रंग लाया; कम से कम देखने में ऐसा ही लगता था। ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश भारतीय प्रजा के खिलाफ नस्ली भेदभाव पर आधारित मताधिकार विधेयक को खारिज कर दिया। लेकिन भारतीय समुदाय की खुशी क्षणिक सिद्ध हुई। नेटाल सरकार ने साम्राजी सरकार की आपत्ति से बचाव का रास्ता निकालने के लिए एक ओर विधेयक प्रस्तुत किया जो देखने में नस्ली आधार पर न सही, व्यवहार में भारतीय मतदाताओं को मताधिकार से वंचित अवश्य करता था। फिर भी गांधी जी का नेतृत्व सही साबित हुआ था और उनके अभियान ने भारत में उनके देशवासियों ही नहीं, इंग्लैंड के उदार तत्वों की अंतरात्मा को भी झकझोर डाला था।

इस बीच नेटाल सरकार भारतीय मतदाताओं का मताधिकार छीनकर ही खामोश नहीं बैठी। उसने उन सभी भूतपूर्व करारबंद मजदूरों पर तीन पाउंड प्रतिवर्ष का व्यक्ति कर लगा दिया जिन्होंने भारत लौटने से इनकार कर दिया था। इसके

पीछे यह धूर्त इरादा था कि उनको करार के नवीनीकरण के लिए मजबूर किया जाए। शुरू में इरादा 25 पाउंड का व्यक्ति कर लगाने का था। लेकिन इस पर भारत के ब्रिटिश वायसराय की सहमति आवश्यक थी और इसलिए इसे घटाकर तीन पाउंड कर दिया गया। तो भी, जैसा कि गांधी जी ने कहा था : 'चार व्यक्तियों अर्थात पति, पत्नी और दो बच्चों के परिवार से प्रतिवर्ष 12 पाउंड का कर वसूलना जबकि पति की औसत आय कभी भी 14 शिलिंग प्रतिमाह से अधिक नहीं रही हो, सरासर जुल्म था और दुनिया में इसकी कहीं कोई मिसाल नहीं थी।'

यह एक और दानव था जिससे लड़ना जरूरी था। हतोत्साहित होना तो दूर, गांधी जी का अभियान और भी तेज हुआ। उनकी कलम से दरख्वास्त के बाद दरख्वास्त, पत्र के बाद पत्र निरंतर झरने की सूरत में निकलते रहे और इसका प्रवाह तेज से तेजतर होता गया। लंदन के **टाइम्स** ने उनकी प्रस्थापना का समर्थन किया और स्थायी करार की स्थिति को 'खतरनाक रूप से गुलामी के करीब' बतलाया। एक जेहादी के रूप में गांधी जी का कौशल पूर्णता की ओर बढ़ रहा था।

आस्था और कल्पना

कोई व्यक्ति यह सोच सकता है कि गांधी जी का वकालत का पेशा ही एक शत्रुवत वातावरण में एक नए व्यक्ति के लिए पहाड़ चढ़ने के समान रहा होगा, और फिर ऊपर से उनके राजनीतिक अभियान, उनके मानव कल्याण के कार्य और उनके धार्मिक संवाद–इन सबके लिए उनको समय ही कहां मिलता होगा। लेकिन गांधी जी अगर यहीं तक सीमित रहे होते और आगे नहीं जाते, अगर वे सिर्फ एक रास्ते पर चलते और दूसरे पर नहीं चलते तो गांधी जी नहीं रहे होते। जो भी काम उनके सामने आए उसे उन्होंने एकाग्रचित्त होकर पूरा किया, लेकिन उनकी दिलचस्पियों के अनेक पहलू थे और उनकी जिज्ञासा जीवंत थी। कोई काम इतना क्षुद्र नहीं था कि उस पर वे पूरा पूरा ध्यान न देते और कोई काम इतना बड़ा नहीं था कि दूसरी दिलचस्पियों को छोड़कर और केवल उसी के होकर रह जाते।

जहां दूसरों के हितों की रक्षा का सवाल था वहां वे यथार्थवादी और व्यावहारिक थे, कड़ी सौदेबाजी करते थे और गहरी सूझ-बूझ दिखाते थे। लेकिन जहां उनकी निजी आस्थाओं और कल्पनाओं का सवाल आता, वे भोले और सहजविश्वासी भी बन जाते थे। उन्होंने अनेक स्तरों पर जीवन बिताया और प्रयोग किए–एक स्तर पर निष्ठुर वस्तुनिष्ठता और वैज्ञानिक सटीकता के साथ तो दूसरे पर सहज और शुद्ध आस्था के साथ।

भोजनशास्त्र में और खासकर कच्चे या तथाकथित शक्तिदायी खाद्यपदार्थों के प्रयोग करना भी उनका एक शौक था; कुछ लोगों ने इसे सनक कहा है। वे प्रत्येक प्रयोग की सावधानी से योजना बनाते, उसके परिणामों को देखते और लिखते जाते, जैसा एक प्रयोगशाला में किया जाता है। इन प्रयोगों के दूसरे चाहे जो लाभ हुए हों, उनके दांत स्थायी रूप से क्षतिग्रस्त हो गए। दक्षिण अफ्रीका से भले के लिए वापस आने के तीन साल बाद जब उनकी पुरानी मित्र मिली ग्राहम पोलक उनसे साबरमती आश्रम में मिलीं तो उनके अनेक दांत न देखकर स्तब्ध रह गईं। लिखती हैं : 'दांतों के अभाव ने उनके हुलिये में भारी परिवर्तन किया था।' गांधी जी ने, जो तब तक महात्मा कहे जाने लगे थे, बतलाया कि उनके दांत 'बहुत अधिक खट्टे फल खाने के कारण' जाते रहे थे।

दक्षिण अफ्रीका में प्रवास के पहले कुछ वर्षों में गांधी जी ने लंदन

की वेजिटेरियन सोसायटी से घनिष्ठ संपर्क बनाए रखा और उसकी पत्रिका के लिए लिखते रहे। वे एडवर्ड मेटलैंड कृत **दि परफेक्ट वे** से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। उनके लेटरहेड पर अंग्रेजी में ये शब्द दर्ज थे : 'इसोटेरिक क्रिश्चियन यूनियन और लंदन वेजिटेरियन सोसायटी के एजेंट' और वे डरबन की पत्रिकाओं में उनके प्रकाशनों का प्रचार करना अपना कर्तव्य समझते थे। उनके लिखे अनेक लेखों में शाकाहार की बहुत भारी पैरवी की गई थी और बड़े सुलझे तर्क दिए गए थे। इनसे पता चलता था कि उन्होंने इस विषय पर पाश्चात्य साहित्य का गहरा अध्ययन किया है।

मनोविनोद की वह अगाध भावना जो बाद में महात्मा की एक उल्लेखनीय विशेषता बन गई, अभी तक सामने नहीं आई थी। लेकिन जब-तब अचेतन लंबे पत्र में जो उन्होंने **नेटाल मरकरी** के संपादक को लिखा था : 'हट्टे-कट्टे शाकाहारी अपने भोजन की श्रेष्ठता का प्रदर्शन यह दिखाकर करते हैं कि दुनिया के लगभग सारे किसान शाकाहारी होते हैं, और यह कि सबसे शक्तिशाली और सबसे उपयोगी पशु अर्थात घोड़ा शाकाहारी होता है जबकि सबसे भयानक और लगभग पूरी तरह बेकार पशु अर्थात शेर मांसभक्षी होता है।'

इस चरण में गांधी जी के जेहादी उत्साह और पत्रकारिता के तेवर को सबसे अच्छी तरह उस लंबी 'खुली चिट्ठी' में देखा जा सकता है जिसे उन्होंने नेटाल धारासभा के सदस्यों को लिखा और पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराया था। भारतीय सभ्यता के ऊंचे मानदंडों के बारे में अनेक सुख्यात पश्चिमी विद्वानों के उद्धरण देने के बाद उन्होंने उनकी प्रशंसा का मुकाबला अपने बीच में रहनेवाले भारतीयों के प्रति नेटाल के यूरोपीय समुदाय के रवैये से किया है। लिखते हैं : 'मुझे विश्वास है, यह बात आसानी से स्वीकार की जाएगी कि उपनिवेश में भारतीयों से बुरी तरह नफरत की जाती है। सड़क चलता आदमी भी उससे नफरत करता है, उसे कोसता है, उस पर थूकता है और अकसर उसे फुटपाथ से धक्का मारकर गिरा देता है। बेहतरीन से बेहतरीन अंग्रेजी शब्दकोश में भी प्रेस को इतना कड़ा शब्द नहीं मिलेगा जिसे उसके ऊपर दे मारा जाए।' कुछ नमूने यहां पेश हैं : 'समुदाय की जड़ों को खा रहा सचमुच का घुन;' 'ये परजीवी;' 'धोखेबाज, धूर्त, अर्ध-बर्बर एशियाई;' 'काला और दुबला-पतला और सफाई से कोसों दूर प्राणी जिसे लोग पापी हिंदू कहते हैं;' 'वह बुराईयों से लदा हुआ है और मात खाकर जीता है...मैं दिल में हिंदू को कोसता हूं;' 'घिनौने कुली; झूठ बोलनेवाली जबानों और धोखेबाज तौर-तरीकों वाले,'...

इस पत्र के बारे में जो बात उल्लेखनीय है, यह है कि लेखक इन सभी गंदी गलियों को उद्धृत करते हुए भी खुद पूरी तरह, कड़वाहट या मैल के हर एक चिह्न से मुक्त है, और निष्ठापूर्वक हर प्रकार की अतिशयोक्ति से बचा रहा है।

हरा परचा

पुण्यात्मा और पापी, दोनों को अच्छी तरह कोई काम करने पर सुख का एकसमान अनुभव होता है। सार्वजनिक जीवन और पेशे, दोनों में गांधी जी अधिकाधिक अपना स्थान बनाते जा रहे थे। उनका काम नेटाल के भारतीय समुदाय के लिए भारी महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहा था जो हर कठिनाई में मार्गदर्शन और सहायता के लिए उनकी ओर देखता रहता था। इतना ही नहीं, वे भी खुद की आत्मा को विशालकाय होते देख रहे थे। इसलिए उनको यह विश्वास होते देर नहीं लगी कि भविष्य उनके लिए चाहे जो कुछ लेकर आए, आनेवाले कुछ वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका ही उनकी कर्मभूमि होगा।

कुछ भी हो, वे अब उस लक्ष्य को नहीं छोड़ सकते थे जिसे उन्होंने खुद बड़े जोश-खरोश से उठाया था और वे सभी व्यावहारिक दृष्टियों से जिसके एकमात्र नहीं तो प्रमुख प्रवक्ता और नेतृत्वकर्मी अवश्य थे। वे अपने योगदान के प्रति सजग थे और फिर भी विनम्रता से इसका आकलन करते थे। उन्हें इसका गर्व था कि वे एक शुभ ध्येय के लिए कार्य कर रहे थे और विनम्रता के साथ समझते थे कि वे उस ध्येय के एक अपर्याप्त साधन हैं। यही उनके पूरे जीवन का खास दृष्टिकोण बना रहा।

यह दृष्टिकोण उस पहले पत्र में ही स्पष्ट था जो उन्होंने 5 जुलाई 1894 को दादाभाई नौरोजी को लिखा था जिसमें उन्होंने ब्रिटिश सरकार और जनता के सामने भारतीयों का पक्ष प्रस्तुत करने में उनकी सहायता मांगी थी। इसमें उन्होंने मताधिकार विधेयक के वास्तविक उद्देश्य को स्पष्ट किया था और अपनी सुबोध और अर्थपूर्ण शैली में नेटाल के यूरोपीय समुदाय के दृष्टिकोण को इस प्रकार प्रस्तुत किया था : 'हम यहां अब और हिंदुस्तानी देखना नहीं चाहते। हम कुली चाहते हैं, मगर वे यहां गुलाम रहेंगे और जैसे ही आजाद होंगे, भारत चले जाएंगे।' फिर उन्होंने अपने देशवासियों के प्रवक्ता के रूप में अपनी भूमिका को स्पष्ट किया है : 'दो शब्द मेरे और जो कुछ मैंने किया है उसके बारे में। मैं अभी भी अनुभवहीन और छोटा हूं और इसलिए बहुत संभव है कि मैं गलतियां कर बैठूं। यह जिम्मेदारी मेरी योग्यता से कहीं बहुत अधिक है। मैं यह भी लिख दूं कि मैं यह सब बिना किसी पारिश्रमिक के कर रहा हूं। इसलिए आप पाएंगे कि मैंने इस विषय को जो

मेरी योग्यता से बाहर है, इसलिए नहीं उठाया है कि मैं भारतीयों की कीमत पर खुद धन बटोरना चाहता हूं। मैं यहां एकमात्र उपलब्ध व्यक्ति हूं जो इस सवाल को निबटा सकता है। इसलिए अगर आप मुझे कृपा करके रास्ता दिखाएं और आवश्यक सुझाव दें तो यह मेरे ऊपर आपका बहुत बड़ा एहसान होगा। मैं उनको बच्चे के लिए पिता के सुझाव समझकर स्वीकार करूंगा।'

अब तक तीन बरस हो चुके थे। अगर गांधी जी को अनिश्चित काल तक दक्षिण अफ्रीका में रहना था तो जरूरी था कि वे भारत से अपना परिवार ले आएं। इसलिए उन्होंने देश जाने के लिए अपने साथियों और सहकर्मियों से छह माह का अवकाश मांगा। उन्होंने प्रार्थना की कि वे भारत में बिताए गए समय का उपयोग करके जनता को दक्षिण अफ्रीका में रह रहे उनके देशवासियों के दुखों से परिचित कराएंगे। जून 1896 में वे डरबन से जहाज में चले।

अपने देशवासियों की प्रार्थना पूरी करने के लिए उन्होंने यात्रा के दौरान एक तथ्यात्मक विवरण लिखा जिसका नाम उन्होंने 'दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश भारतीयों की शिकायतें' रखा। इसे उन्होंने देश पहुंच कर प्रकाशित कराया। परचे के आवरण के रंग के कारण इसी का नाम हरा परचा पड़ा। इसकी दस हजार प्रतियां छापी गईं। भारतीय पत्र-पत्रिकाओं ने इसका व्यापक प्रचार किया और इस पर टिप्पणियां कीं। पहला संस्करण जल्द ही बिक गया और दूसरा छापना पड़ा।

गांधी जी का वर्णन गंभीर और संयमपूर्ण था। यह हमेशा की तरह असत्य, घृणा या किसी प्रकार की अतिशयोक्ति से पाक-साफ था। उन्होंने ऐसी बात नहीं कही थी जो उन्होंने डरबन में बहुत पहले प्रकाशित 'खुली चिट्ठी' में नहीं कही थी। वास्तव में, उनके पूरे जीवन में उनकी राजनीतिक आस्था का जो बुनियादी तत्व रहा यह यहां इस बयान में स्पष्ट था : 'दक्षिण अफ्रीका में हमारा तरीका प्रेम से इस घृणा पर विजय पाने का है।' दुर्भाग्य से, रायटर ने इसकी एक भ्रष्ट और विकृत रिपोर्ट भेजी जिसने नेटाल के यूरोपीयों में काफी गलतफहमी पैदा की। उन्हें विश्वास हो चला कि उनकी अनुचित निंदा और मानहानि की गई है। आगे चलकर इसके दुखद परिणाम हुए।

गांधी जी ने कुछ समय अपने गृहनगर राजकोट में बिताया। यहां उनका दुर्दमनीय उत्साह हरे परचे की छपाई और उसे दूसरों को भेजने के अलावा अनेक गतिविधियों के रूप में सामने आया। जल्द ही ताऊन के फूट पड़ने का डर सामने था। इसलिए उन्होंने राज्य के स्वास्थ्य विभाग को स्वेच्छा से अपनी सेवाएं प्रदान कीं, नगर की हर गली के शौचालयों में सफाई का मुआयना किया और उस पर अपनी सलाह दी। सफाई ऐसा विषय थी जिसे हमेशा उन्होंने भारी महत्व दिया। स्वच्छ शौचालय घर को स्वच्छ रखता है। उनकी सभ्य जीवन की कसौटी यही थी। बहुत लोगों को यह बात एक गैर-भारतीय सनक जैसी लगी। लेकिन सच यह है

कि यह उनके मानवतावादी दृष्टिकोण की मूलभूत पवित्रता की पहचान थी।

वे यह जानकर प्रसन्नता के साथ आश्चर्यचकित रह गए कि 'अछूतों' के घर सबसे साफ-सुथरे थे जहां निरीक्षण समिति में उनके अधिकांश सहकर्मियों ने जाने से इनकार कर दिया था। सबसे गंदे शौचालय 'ऊपर के दस' घरों में थे जहां बेरुखी से उन्हें जाने से रोक दिया गया था। यह सब उनके लिए शिक्षा समान था जो आगे चलकर बहुत काम आया।

यह भी एक दिलचस्प बात है कि लगभग इसी समय गांधी जी महारानी विक्टोरिया के हीरक जयंती समारोहों की तैयारी के लिए गठित समिति में भी शामिल हुए, और उन्होंने अपने परिवार के बच्चों को ब्रिटिश राष्ट्रगान भी सिखाया। अपने पूरे घटनापूर्ण और अद्वितीय जीवन में गांधी जी एकसमान उत्साह से उदात्त और अनमेल का व्यवहार करते रहे।

डरबन के भारतीय मित्रों से प्राप्त आदेश की पूर्ति के लिए गांधी जी ने भारत के प्रमुख नगरों की यात्राएं की, जनमत बनाने वाले नेताओं से मिले, उनको दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों की दशा का आंखों-देखा विवरण दिया, इस ध्येय में प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों की रुचि जगाई, तथा मुंबई, पूना और मद्रास में जनसभाओं को संबोधित किया उस समय मुंबई के बेताज के बादशाह कहलानेवाले सर फीरोजशाह मेहता तथा विद्वान और उग्र देशभक्त लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व से वे बहुत अधिक प्रभावित हुए; अभिभूत भी कुछ कम नहीं हुए। उन्होंने हमदर्दी के साथ गांधी जी की बात सुनी और उनका हौसला बढ़ाया, हालांकि कुछ अनुग्रह का भाव भी वे दिखाते रहे जो उन परिस्थितियों में अपरिहार्य था। लेकिन उदारमन और शुद्धहृदय गोखले ने फौरन उनके दिल को जीत लिया। 'उनके साथ भी यह मेरी पहली मुलाकात थी और फिर भी लगा कि हम एक पुरानी मित्रता को नए सिरे से स्थापित कर रहे हैं। सर फीरोजशाह मुझे हिमालय और लोकमान्य सागर की तरह लगे। लेकिन गोखले गंगा की तरह थे। इस पवित्र जल में कोई भी स्नान करके तरोताजा हो सकता था।'

यह एक प्रकार से सौभाग्य की बात थी कि गांधी जी को अपने आध्यात्मिक संकट और राजनीतिक परीक्षण का सामना दूर-दराज के एक 'ईश्वर द्वारा विस्मृत' देश में करना पड़ा जहां उनको पूरी तरह अपने आंतरिक संसाधनों पर भरोसा करना पड़ा और जहां वे अपनी मुक्त अंतःदृष्टि और निर्णय-क्षमता को मार्गदर्शक बना सकते थे। भारत में रहकर वे अनेक वरिष्ठ राजनयिकों से अनुचित रूप से प्रभावित या हतोत्साहित हुए होते जिनमें से अधिकांश के प्रति उनकी श्रद्धा, जैसाकि आज लगता है, थोड़ी बहुत अतिशयोक्तिपूर्ण थी। लेकिन दक्षिण अफ्रीका में वे अकेले खड़े हुए, अकेले चले और पूरा बोझ अपने अकेले के कंधों पर लादा। वे कुछ बने तो इसी कारण। जब वे हमेशा के लिए भारत आए तब तक उनके आदर्श जड़ें

जमा चुके थे। उनकी रणनीति की आजमाइश हो चुकी थी और वह खरी उतरी थी। इसलिए देखते ही देखते वे दृश्यपटल पर छा गए और उनके नेतृत्व को कोई गंभीर चुनौती नहीं मिली। लेकिन वह चरण तो अभी बहुत दूर था।

गांधी जी अभी कलकत्ता में थे, जहां उम्मीद थी कि वे एक जनसभा को संबोधित करेंगे, तभी उन्हें डरबन से एक तार मिला कि वहां उनकी मौजूदगी फौरन जरूरी थी। इसलिए वे शीघ्रता से मुंबई पहुंचे जहां वे अपनी पत्नी और बच्चों के साथ दिसंबर के शुरू में कूरलैंडर जहाज पर चल पड़े; इसे उनके मुवक्किल-दोस्त दादा अबदुल्ला ने हाल ही में हासिल किया था। फिर तो ऐसा हुआ कि लगभग उसी समय एक और जहाज रवाना हुआ और वह भी नेटाल और ट्रांसवाल के लिए भारतीय यात्री ले जा रहा था। दोनों जहाज दिसंबर के तीसरे सप्ताह में डरबन पहुंचे। उनको फौरन जब्त कर लिया गया।

हरे परचे के बारे में जब से रायटर ने अपनी विकृत रिपोर्ट भेजी थी, डरबन के गोरे निवासी जिस चीज को गांधी जी का सोचा-समझा निंदा-अभियान समझ रहे थे उस पर गुस्से से उबल रहे थे। फिर इस निराधार आशंका ने आग में घी का काम किया कि गांधी जी अपने साथ दो जहाजों में भरकर भारतीय अप्रवासियों को लाए थे। फिर तो भयानक सभाएं हुईं जिनमें गोरे वक्ताओं ने धमकी दी कि अगर ये यात्री वापस नहीं जाते तो उन सबको वे समुद्र में फेंक देंगे। एक लालच भी दिया गया कि अगर वे भारत लौट जाएं तो उनको वापसी का भाड़ा भी दिया जा सकता है।

लेकिन यात्रियों पर किसी धमकी या किसी फुसलावे का कोई असर नहीं पड़ा जिनको गांधी जी लगातार समझाते-बुझाते और उत्साहित कर रहे थे। न ही दादा अबदुल्ला एंड कंपनी पर इसका कोई असर पड़ा जो इन जहाजों के एजेंट और मालिक थे। मजबूरी में जहाज पर ही क्रिसमस मनाना पड़ा और उसके कप्तान ने जो भोज दिया उसमें गांधी जी ने एक भाषण पश्चिमी सभ्यता पर दिया 'जिसका परिणाम नेटाल के गोरे थे।' तेईस दिनों के बाद जहाजों को बंदरगाह में घुसने की इजाजत मिली और सारे मुसाफिर बिना किसी नुकसान के उतर गए।

लेकिन गांधी जी नहीं उतरे। उन्हें एटार्नी-जनरल ने कहलवा भेजा था कि गोरे खास तौर पर उन्हीं से नाराज हैं, इसलिए वे दिन ढलने के बाद उतरें, और तब उन्हें और उनके परिवार को सुरक्षा प्रदान की जाएगी। लेकिन इस संदेश के कुछ ही समय बाद एजेंट कंपनी के कानूनी सलाहकार श्री लाफटन जहाज पर आए। उनकी राय थी कि गांधी जी का 'रात में चोर की तरह' शहर में घुसना न तो जरूरी था और न ही उचित था। इस सुझाव के बाद श्रीमती गांधी और बच्चे एक गाड़ी में बैठकर एक धनिक मित्र रुस्तमजी के घर चले। पीछे पीछे गांधी जी और लाफटन पैदल रुस्तमजी के घर की ओर बढ़े जो कोई दो मील दूर था।

यह हिम्मत की बात थी, मगर दुर्भाग्य से लाफटन ने खतरे को कम करके आंका था। जैसे ही गांधी जी नीचे उतरे, वे पहचान लिए गए। देखते ही देखते एक भीड़ चीखते-चिल्लाते और गालियां बकतें हुए उनके चारों तरफ जमा हो गई। लाफटन को उनके पास से जबरन दूर खींच लिया गया, और गांधी जी पर पत्थरों, ईंटों के टुकड़ों और सड़े अंडों की बारिश होने लगी। उनकी पगड़ी खींच ली गई और उन पर घूंसों, थप्पड़ों और लातों से प्रहार किया गया। 'मैं बेहोश होने लगा। मैंने एक घर की सामने की रेलिंग पकड़ ली और वहां सांस लेने के लिए खड़ा हो गया। लेकिन यह असंभव था। वे घूंसे बरसाते और मारपीट करते हुए ऊपर चढ़ आए।'

अगर एक बहादुर अंग्रेज महिला, जो पुलिस अधीक्षक की पत्नी थी, उस समय उधर से नहीं गुजरी होती तो इस धुनाई के और भयानक नतीजे निकल सकते थे। वे दौड़कर प्रताड़ित व्यक्ति के पास पहुंच गईं और फेंककर मारी जानेवाली चीजों से उसकी रक्षा करने के लिए अपनी छतरी खोल दी। इस बीच पुलिस को खबर मिल चुकी थी। गांधी जी को सुरक्षा प्रदान करके रुस्तमजी के घर पहुंचा दिया गया जहां उनकी आरंभिक चिकित्सा की गई।

लेकिन खतरा अभी टला नहीं था। खून का स्वाद चख चुकी पागल भीड़ और खून मांग रही थी। अपने शिकार को खोकर इस चिंघाड़ती हुई भीड़ ने रुस्तमजी के मकान को घेर लिया और चिल्लाने लगी : 'गांधी को हमारे हवाले करो।' पुलिस अधीक्षक को विश्वास नहीं था कि वह इस वहशी भीड़ को देर तक काबू में रख पाएगा। इसलिए उसने घबराकर गांधी जी को संदेश भेजा कि अगर रुस्तमजी के मकान और उसके निवासियों के जीवन को बचाना है तो गांधी जी भेस बदलकर वह घर छोड़ने पर राजी हों। इसलिए गांधी जी चुपके से एक भारतीय कांस्टेबिल के रूप में घर से बाहर निकल गए। उनके साथ दो गुप्तचर भी थे और वे भी भेस बदले हुए थे।

बाद में इस घटना को याद करते हुए गांधी जी ने लिखा : 'कौन कह सकता है कि मैंने अपने जीवन को खतरे में जानकर ऐसा किया या इसलिए किया कि मैं अपने मित्र के जीवन या उसकी संपत्ति को या अपनी पत्नी और बच्चों के जीवन को खतरे में नहीं डालना चाहता था ? कौन कह सकता है कि मेरे दोनों काम सही थे—जब मैंने भीड़ का सामना पहले बहादुरी के साथ किया, जैसाकि कहा गया, और फिर भेस बदलकर निकल पड़ा ?'

इस काययरतापूर्ण हमले की खबर बड़े पैमाने पर फैली और ब्रिटिश उपनिवेश सचिव जोसेफ चैंबरलेन ने नेटाल के अधिकारियों को तार भेजा कि इसके लिए जिम्मेदार शरारती तत्वों पर मुकदमा चलाया जाए। लेकिन गांधी जी ने हमलावरों को पहचानने से या मुकदमे का एक पक्ष बनने से इनकार कर दिया।

उन्होंने कहा कि इन लोगों को गलत रास्ता दिखाया गया था और यह कि जब उनको सच्चाई का पता चलेगा तो जो कुछ उन्होंने किया था उस पर वे दुखी होंगे।

सचमुच ऐसा ही हुआ। 'प्रेस ने मुझे बेगुनाह घोषित किया और भीड़ की निंदा की। इस प्रकार यह पिटाई आखिरकार मेरे लिए अर्थात मेरे ध्येय के लिए वरदान साबित हुई।' 'कुली बैरिस्टर' के अंदर सोया हुआ महात्मा अब जाग रहा था और अपनी मौजूदगी का एहसास करा रहा था।

गृहस्थ

भारत से पत्नी और बच्चों को लाने के बाद गांधी जी ने बाकायदा एक घर बसाया। यह उनके जीवन का एक पहला मौका था जब वे अपने परिवार के साथ एक स्वतंत्र गृहस्थी बसाने जा रहे थे। उनकी पत्नी तो इस संभावना पर गदगद हो गई होंगी। विवाह के बाद बहू या देवरानी के रूप में उनकी हैसियत एक अधीनस्थ की रही थी। उनके पति ने कभी इतना कमाया ही नहीं था कि उनको घर की मालकिन होने का अहसास होता। अब आखिरकार उनको यह वस्तु मिलने जा रही थी जिसे कोई भी भारतीय नारी या दुनिया में कहीं की भी नारी अपना सबसे बड़ा सम्मान और आनंद समझकर पाना चाहती है।

लेकिन बहुत सारी भारतीय नारियों को घर की रानी होने का जो सम्मान और आनंद तब प्राप्त होता है जब उनके पति घर की व्यवस्था में दखल देने की इच्छा या साहस नहीं करते, वह सम्मान और आनंद कस्तूरबाई को कभी नहीं मिला। अपनी गैर-दुनियावी आकांक्षाओं और लोकतांत्रिक विनम्रता के बावजूद, जहां तक अपने ही नहीं, अपने निकटजनों के निजी जीवन का सवाल था, गांधी जी तानाशाह नहीं तो निरंकुश अवश्य थे। वे जिन लोगों के शारीरिक, मानसिक और नैतिक कल्याण के लिए खुद को जिम्मेदार समझते थे, उन सबके निर्विवाद सलाहकार और अकाट्य मार्गदर्शक थे। किसी समय उनकी जो भी कल्पनाएं या सनकें रही हों, उन्हें सबको मानना और अपनाना पड़ता था—मन मारकर नहीं बल्कि खुशी खुशी।

इस काल में भी वे बैरिस्टर के रूप में और अपने समुदाय के नेता होने की स्थिति के बारे में अपनी गरिमा के प्रति सजग थे। उनको पता था कि अगर यूरोपीय उनके देशवासियों को हीन समझते थे तो उनके देशवासियों के जीवन का कम स्तर और भौंडी शैली भी इसका एक कारण थी। इसलिए अपने सीधे-सादे और शाकाहारी सिद्धांतों पर अडिग रहकर भी एक ऐसा जीवनस्तर पाने के लिए प्रयासरत थे जो औसत पाश्चात्य जीवनपद्धति से बहुत भिन्न या नीचे न हो।

राजकोट छोड़ने से पहले और यात्रा के दौरान भी वे अपनी पत्नी और बच्चों के परिधान में कुछ सुधार ला चुके थे और उनको जूते और मोजे पहनने के लिए

तैयार कर चुके थे। 'मेरी पत्नी और बच्चों को इनकी आदत डालने में लंबा समय लगा। जूते उनके पैरों को कसते थे और मोजे पसीने से बदबू देते थे। पैरों की उंगलियां अकसर अकड़ जाती थीं।' उनको छुरी-कांटे के इस्तेमाल भी सिखाए गए। वे सही ढंग या सहजता से मुश्किल से ही उनका इस्तेमाल कर पाते थे और भोजन तो कभी पहले जैसा स्वाद नहीं देता था। लेकिन 'सभ्यता' के हित में यह दंड सहर्ष उठाना पड़ता था।

यह परिवार एक उपनगर के औसत किस्म के मगर आरामदेह मकान में रहा जिसे बिना किसी तड़क-भड़क के सादी पाश्चात्य शैली में सजाया गया था। भोजन शुद्ध शाकाहारी होता था मगर बड़ी मात्रा में बनता था क्योंकि भारतीय और यूरोपीय, दोनों प्रकार के मेहमान आते ही रहते थे। एक रसोइया था और ऊपरी कामों के लिए एक नौकर भी। गांधी जी ने अपने साथ आए दो पुत्रों और एक भतीजे की शिक्षा के लिए एक अंग्रेज गवर्नेस भी रखा। वे बच्चों को एक यूरोपीय विद्यालय में भी प्रवेश दिला सकते थे। 'मगर केवल कृपावश और अपवादस्वरूप। किसी और भारतीय बच्चे को उनमें प्रवेश की अनुमति नहीं थी।' अपवाद समझे जाने के लिए गांधी जी तैयार न थे; इसलिए उन्होंने एक अंग्रेज गवर्नेस रखना ही बेहतर समझा। उनके अध्यापन के साथ वे खुद भी बच्चों को मातृभाषा गुजराती की शिक्षा देने लगे।

लेकिन कानूनी पेशे से आमदनी के लगातार बढ़ने के बावजूद यह जीवन शैली बहुत दिनों तक नहीं चली। गांधी जी के अंदर का संन्यासी एक सरल जीवन के लिए तड़पता रहता था और अंदर का मिशनरी देशवासियों की दिनोंदिन सेवा के ठोस कामों के लिए बेचैन था। एक दिन एक कुष्ठरोगी जब उनके दरवाजे आया तो उन्होंने गर्मजोशी से उसका स्वागत किया, उसकी मरहम-पट्टी और देखभाल की। वे उसे घर में स्थायी रूप से रखने में असमर्थ थे और इसलिए बेचैन हो उठे। उनकी अंतरात्मा एक बार फिर उन्हें कोंचने और शर्मिंदा करने लगी।

उनकी इच्छा किसी अस्पताल से जुड़ने की थी जहां वे सक्रिय और नियमित रूप से बीमारों की तीमारदारी कर सकें। डा. बूथ की सहायता से वे सफल रहे, और एक छोटे से अस्पताल ने हर सुबह कुछ घंटों के लिए उनकी स्वैच्छिक सेवा स्वीकार कर ली। आगे चलकर यह अनुभव उनके बड़े काम आया जब उन्हें बोअर युद्ध और तथाकथित जुलू विद्रोह के दौरान बीमारों और घायलों की तीमारदारी करनी पड़ी।

उन्होंने पुस्तकों की सहायता से प्रारंभिक दाईगिरी और बच्चों की देखभाल का ज्ञान भी प्राप्त किया। जब अपने चौथे और आखिरी बेटे के प्रसव में उन्हें मदद देनी पड़ी तब यह ज्ञान उनके बड़े काम आया क्योंकि उस समय वक्त पर पेशेवर

चिकित्सा-सहायता नहीं मिली।

उन्होंने खुद अपने बालों को काटने तथा कमीज और कालर धोने की जो कला सीखी उसके परिणाम अधिक मनोविनोदपूर्ण रहे। 'मैं उस कालर को कभी नहीं भूलूंगा जो मैंने खुद धोया था।' उन्होंने जरूरत से ज्यादा स्टार्च का इस्तेमाल किया, इस्तरी पूरी तरह गर्म नहीं थी और कालर के जलने के डर से अच्छी तरह दबाकर नहीं चलाई गई थी। नतीजा यह हुआ कि गांधी जी जब यह कालर लगाकर अदालत गए तो उससे स्टार्च टपकता रहा और वे कई आंखों की किरकिरी और कई साफदिल मजाकों का निशाना बन गए। लेकिन धीरे धीरे वे इस कला में पारंगत हो गए।

कपड़ा धोने का काम उन्होंने किफायत के तौर पर अपनाया था। लेकिन अपने बाल काटने के लिए वे इस कारण उत्तेजित हुए कि एक अंग्रेज हज्जाम ने अपमान-भाव के साथ 'एक कुली' के बाल काटने से इनकार कर दिया था। उनके वकील दोस्तों ने हंसी से दोहरा होते हुए पूछा : 'तुम्हारे बालों को क्या हुआ है गांधी ? इनमें चूहे लग गए क्या ?' लेकिन जो कुछ उचित गांधी जी समझते थे उसके करने पर उनकी हंसी उड़ाई गई तो उन्होंने कभी बुरा नहीं माना; न तब और न आगे चलकर। अपनी सहायता आप करना उनके समाज-दर्शन का बुनियादी तत्व बन गया और अधिकाधिक बनता गया।

आत्मसहायता का यह पहलू सभी हालात में एक बुनियादी गुण है, चाहे उसकी कीमत कुछ भी हो। लेकिन इसके अलावा इस घटना से उनके मानसिक दृष्टिकोण का एक और महत्वपूर्ण पहलू सामने आया। उस गोरे हज्जाम को इलजाम देना तो दूर, उन्होंने उसके साथ हमदर्दी ही जताई।

'मेरे बाल काटने से इनकार करके उस हज्जाम ने कुछ गलत नहीं किया। अगर वह कालों के बाल काटता तो उसका धंधा चौपट होने की पूरी पूरी संभावना थी। हम अपने हज्जामों को अपने हरिजन भाइयों के बाल काटने की इजाजत नहीं देते। मुझे दक्षिण अफ्रीका में एक बार नहीं, अनेकों बार उसी का पुरस्कार मिला। इस विश्वास ने मुझे क्रुद्ध होने से बचा लिया कि यह सब हमारे अपने पापों का दंड था।'

उनकी अपनी गृहस्थी फैलती जा रही थी—इसलिए नहीं कि उनकी संतानें बढ़ रही थीं बल्कि इसलिए कि वे अजनबियों को और अकसर-बेशतर अपने दफ्तर के क्लर्कों को भी घर का सदस्य बना लेते थे। उन सबको वे अपने बंधु-बांधव समझकर उनसे एकसमान व्यवहार करते थे। 'मैंने संबंधियों और अजनबियों में, देशवासियों और विदेशियों में, गोरों और कालों में, हिंदुओं और दूसरे धर्म माननेवाले भारतीयों में, चाहे वे मुसलमान हों, पारसी, ईसाई या यहूदी हों, कोई भेद नहीं जाना।'

गांधी जी के अंतर्जात मानवतावाद के एक सूचक और उनके महात्मा बनने के लिए आवश्यक अनुशासन के रूप में यह सार्वभौमवादी दृष्टिकोण चाहे जितना श्रेष्ठ हो, एक गृहस्थ की पत्नी के लिए यह हमेशा ही चिढ़ का कारण रहा होगा। वास्तव में कभी कभी इसी के कारण दोनों के बीच कुछ कम टकराव और तल्खी पैदा नहीं हुई। तमाम सामान्य मानदंडों के आधार पर कस्तूरबाई एक समर्पित पत्नी और माता थीं; और जिस जाति और समुदाय में पली-बड़ी थीं उसकी परंपराओं के प्रति आस्थावान थीं। एक अच्छी पत्नी और मां बनने से अधिक उनकी कोई आकांक्षा भी नहीं थी। वे इच्छा और खुशी से पति की सेवा के लिए तैयार थीं, लेकिन पति घर में रह रहे अजनबी रोगियों के मूत्र का पात्र भी साफ करने के लिए उन्हें मजबूर करे, वे इसका विरोध करती थीं।

उनमें एक ईसाई क्लर्क भी था जिसके माता-पिता 'अछूत' थे। वे उसका मूत्रपात्र साफ करने से घबराती थीं लेकिन गांधी जी अड़े रहे। वे जिनको सबसे अधिक चाहते या अपना समझते थे उनके साथ धोर निर्दयी भी बन जाते थे। इस घटना पर उन्होंने खुद जो कुछ लिखा है, उसका उससे अच्छा वर्णन नहीं हो सकता।

"आज भी मुझे वह दृश्य याद है कि जब वे पात्र हाथ में लिए हुए सीढ़ियों से नीचे उतरीं तो उनकी आंखें गुस्से से लाल थीं और गालों पर मोती से आंसू बह रहे थे, और वे मुझे झिड़कने लगी थीं। लेकिन मैं निर्दयता की सीमा तक दयावान पति था। मैं अपने को उनका शिक्षक समझता था, और इसलिए मैंने उनके प्रति अपने अंधप्रेम के कारण उनको परेशान कर रखा था।

"मैं उनके केवल पात्र ढोने से किसी भी तरह संतुष्ट नहीं था। मैं इसे हंसी-खुशी भी कराना चाहता था। इसलिए मैंने ऊंची आवाज में उनसे कहा : 'मैं अपने घर में यह बदतमीजी बर्दाश्त नहीं करूंगा।'

"ये शब्द तीर की तरह उनके दिल में चुभ गए।

"वे पलटकर चीखीं : 'अपना घर अपने पास रखो और मुझे जाने दो।'

"मैं खुद को भुला बैठा और मेरे अंदर करुणा का स्त्रोत सूख गया। मैंने उनका हाथ पकड़ा, असहाय स्त्री को घसीटकर दरवाजे के पास ले गया जो सीढ़ी के ठीक सामने था, और उनको बाहर धक्का देने के इरादे से उसे खोलने बढ़ा। आंसू उनके गालों पर मूसलाधार बह रहे थे, और वे चीखीं : 'तुम्हें शर्म-हया भी है या नहीं ? इस कदर अपने-आपको भूल गए हो ? मैं जाऊंगी कहां ? यहां शरण देने के लिए मेरे माता-पिता या रिश्तेदार भी तो नहीं हैं। तुम सोचते हो, तुम्हारी पत्नी होने के नाते मुझे तुम्हारे लात-घूंसे सहने होंगे ? ईश्वर के लिए अपने को संभालो और दरवाजा बंद करो। हम इस तरह अपना तमाशा तो न बनाएं।'

"मैंने अपनी अकड़ बनाए रखी, मगर वास्तव में मैं शर्मिंदा था और मैंने दरवाजा बंद कर दिया। अगर मेरी पत्नी मुझे नहीं छोड़ सकती थी तो मैं भी तो उसे नहीं छोड़ सकता था। हमारे बीच कई बार खटपट हुई है मगर आखिर में हमारे बीच शांति स्थापित हुई है। अपनी बेमिसाल सहनशक्ति के कारण मेरी पत्नी हमेशा ही जीतती रही है।"

बोअर युद्ध

1899 में बोअर युद्ध फूट पड़ा। गांधी जी की निजी हमदर्दी बोअरों के साथ थी जो अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे। फिर भी उन्होंने भारतीय समुदाय को इस आधार पर अंग्रेजों की सहायता करने की सलाह दी कि वे अपने अधिकारों के दावे ब्रिटिश प्रजा के रूप में करते थे और इसलिए साम्राज्य के लिए खतरा पैदा होने पर उसकी रक्षा करना उनका कर्तव्य था। कर्तव्य नहीं तो अधिकार नहीं—यही जीवन भर उनका नारा रहा। इसलिए उन्होंने 1100 स्वयंसेवकों के एक भारतीय एंबुलेंस कार्प्स की सेवाएं प्रदान कीं जिसे उन्होंने डा. बूथ की सहायता से संगठित और प्रशिक्षित किया था।

कार्प्स ने गांधी जी के नेतृत्व में सराहनीय कार्य किया। स्पियान काप में अंग्रेजों के मात खाने के बाद कार्प्स ने युद्धक्षेत्र के अंदर काम करने की इच्छा व्यक्त की हालांकि इसकी कोई मजबूरी नहीं थी। ये लोग घायलों को स्ट्रेचर में डालकर एक दिन में बीस-पच्चीस मील चलते थे। जनरल वुडगेट और लार्ड राबर्ट्स का बेटा भी इन घायलों में शामिल थे। जनरल बुलर के डिस्पैच में प्रशंसा के साथ कार्प्स का उल्लेख किया गया था।

स्पियान काप की लड़ाई के बाद मोर्चे का दौरा करनेवाले, **प्रिटोरिया न्यूज** का ब्रिटिश संपादक मोर्चे से 'सर्जेंट-मेजर गांधी' की यह छवि लेकर लौटा : 'एक रात की मेहनत के बाद, जिसने कई और भी भारीभरकम व्यक्तियों को तोड़ दिया था, सुबह तड़के मेरी मुलाकात गांधी से हुई जो सड़क के किनारे बैठे रेगुलेशन आर्मी वाला बिस्कुट खा रहे थे। बुलर की सेना का हर आदमी निढाल और चूर था और हर चीज पर लानत छाई हुई थी। लेकिन गांधी अपनी सहनशक्ति में योगियों के समान, अपनी बातचीत में प्रसन्न और विश्वस्त थे, और उनकी आंखों में दया भरी थी। वह हरेक का भला करते थे। यह एक अनौपचारिक मुलाकात थी और इसने दोस्ती का रूप ले लिया। नेटाल के अभियान के दौरान मैंने इस छोटे से आदमी और उसके छोटे से अनुशासनहीन कार्प्स को कई युद्धक्षेत्रों में देखा। जहां भी राहत की जरूरत होती, वे वहां पहुंच जाते। उनकी सहज निर्भीकता ने अनेक जानें लीं और आखिरकार उनको युद्धक्षेत्र में आने से मना करते हुए एक आज्ञा जारी की गई।'

गांधी जी ब्रिटिश यातना-शिविरों में बोअर स्त्रियों की बहादुराना सहनशक्ति से अंदर तक हिल गए और ब्रिटिश जनता की प्रतिक्रिया से प्रभावित हुए। बाद में उन्होंने लिखा था : 'जब यह करुण पुकार इंग्लैंड पहुंची तो अंग्रेज जनता को गहरा कष्ट हुआ। वह बोअरों की बहादुरी की भारी सराहना कर रही थी...स्वर्गीय श्री स्टीड ने सार्वजनिक रूप से प्रार्थना की और दूसरो को भी ऐसी प्रार्थना करने का निमंत्रण दिया कि ईश्वर युद्ध में अंग्रेजों को शिकस्त दे। यह एक अद्‌भुत दृश्य था। बहादुरी से सहे गए वास्तविक कष्ट पत्थर का दिल भी पिघला देते हैं। कष्ट या तप में ऐसी ही शक्ति होती है। और यही सत्याग्रह का मूलमंत्र है।'

1901 में युद्ध की समाप्ति पर गांधी जी को लगा कि अब उन्हें भारत लौट जाना चाहिए। देश उनको बुला रहा था। हमेशा के आशावादी गांधी जी को आशा थी कि युद्ध में भारतीय समुदाय की भूमिका न्याय की ब्रिटिश भावना को उभारेगी और भारतीय निवासियों के प्रति गोरों की दुश्मनी को कम करने में मदद देगी। उन्हें डर भी था कि दक्षिण अफ्रीका में कानूनी पेशे में उनकी बढ़ती सफलता उनको 'धन का लोभी' बना सकती है। उन्हें अपने दोस्तों और सहकर्मियों से जाने की इजाजत लेने में कुछ कम मुश्किल नहीं आई और उन्हें वादा करना पड़ा कि अगर समुदाय को जरूरत हुई तो वे साल भर में वापस आ जाएंगे।

विदाई के समय उनको सोने, चांदी और हीरे के कीमती तोहफों से लाद दिया गया। उनकी पत्नी के लिए 'सोने का, पचास गिन्नी का हार' भी इनमें शामिल था। 'जिस शाम मुझे ये अधिकांश चीजें दी गईं, मैं सो नहीं सका। मैं गहरी उत्तेजना के साथ कमरे में चहलकदमी करता रहा लेकिन कोई समाधान नहीं निकाल सका। सैकड़ों रुपए के उपहार छोड़ना मेरे लिए कठिन था, और उनको रखना तो और भी कठिन था।'

आखिर में उन्होंने समुदाय की सेवा के लिए एक न्यास बनाने का फैसला किया। इसमें अब मिले और पहले 1896 में विदाई के समय मिले उपहार भी जमा कर दिए गए। अपनी पत्नी को ऐसे किसी फैसले की बुद्धिमता या आवश्यकता का विश्वास दिलाना आसान नहीं था। उन्होंने खट्टे दिल से शिकायत की कि वे उनको तो उनके अधिकारों से वंचित कर ही चुके हैं, भावी बंधुओं को भी उनके अधिकारों से वंचित कर रहे हैं।

'लेकिन,' मैंने जवाब में कहा : 'यह हार तुम्हारी सेवा के बदले में मिला है या मेरी सेवा के बदले में ?'

'मैं मानती हूं। लेकिन आपकी सेवा उतनी ही है जितनी मेरी सेवा। मैं आपके लिए दिन-रात मेहनत करती और पिसती रही हूं। क्या यह कोई सेवा नहीं है ? आपने हर ऐसे-गैरे को मेरे ऊपर लादा और मुझे खून के आंसू रुलाए, और मैं उनकी चाकरी करती रही।'

'ये बड़े नोकदार तीर थे, और कुछ तो चुभे भी। लेकिन मैं जेवरात लौटाने के लिए कृतसंकल्प था। मैं किसी तरह उनकी स्वीकृति पाने में कामयाब रहा... उसके बाद मैं कभी इस कदम पर नहीं पछताया और वर्षों के कालक्रम में मेरी पत्नी ने भी इसकी बुद्धिमता को समझा है। इसने अनेक प्रलोभनों से हमारी रक्षा की है।'

भारत में कुछ दिन

1901 के अंत में गांधी जी और उनके परिवारजन आंसुओं भरी विदाई के बीच घर के लिए चले। गांधी जी भारत ऐसे समय पहुंचे कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में जा सकें। वहां दक्षिण अफ्रीका पर उनका प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार किया गया जो उनके लिए संतुष्टि का कारण बना।

लेकिन वे कांग्रेस में मौजूद आम वातावरण से निराश हुए। उन्हें लगा कि भारत में राजनीतिज्ञ बातें बहुत और काम कम करते हैं। प्रतिनिधियों के बीच जातीय श्रेष्ठता के दंभ को नग्न रूप में देखकर उन्हें दुख हुआ। 'मैंने खुद से कहा, अगर कांग्रेस के प्रतिनिधियों के बीच भी इतना छुआछूत है तो उसके घटकों में मौजूद छुआछूत के परिणाम की कल्पना आसानी से की जा सकती है। इस विचार पर मेरी आह निकल गई।'

शिविर में गंदगी की 'कोई सीमा नहीं' थी और इस पर भी वे कुछ कम हतप्रभ नहीं हुए। जब उन्होंने ऊबाऊ गंदगी और बदबू की ओर स्वयंसेवकों का ध्यान खींचा तो उन्होंने बेरुखी से जवाब दिया कि यह उनका नहीं, भंगी का काम था। 'मैंने एक झाड़ू मांगा। वह शख्स हैरत से मुझे घूरने लगा। मैंने एक झाड़ू हासिल किया और शौचालय की सफाई की। लेकिन वह तो मेरे लिए था। भीड़ इतनी अधिक थी और शौचालय इतने कम थे कि उनको बार बार साफ करना जरूरी था; लेकिन यह मेरी शक्ति से बाहर था। इसलिए मुझे अपने शौचालय की सफाई पर संतोष करना पड़ा। और दूसरे लोग बदबू और धूल-मिट्टी से चिंतित नहीं दिखाई देते थे।'

हमेशा की तरह गांधी जी यहां भी राजनीतिक मंचों पर बहादुराना प्रदर्शन करने से अधिक नैतिक पतन और राष्ट्रीय असहायता के मूल कारणों को लेकर कहीं बहुत अधिक चिंतित थे। अब तक जनता की निगाह में तो नहीं लेकिन उनके अंदर जो वास्तविक गांधी उभर चुका था, वह न तो ऐसा संत था जो भटककर राजनीति में चला गया हो और न ऐसा राजनीतिज्ञ था जो धर्म की बातें करता था, भले ही वह कभी कभी एक या दोनों नजर आता रहा हो। इसकी बजाय वह ऐसा बहुत व्यावहारिक समाजसुधारक और तीक्ष्ण प्रेक्षक था जो अनेक खोलों को चीरकर देख सकता था और तथाकथित सभ्यता का आवरण चाहे जितना ही मोटा

और सुगंध में बसा हुआ हो, उसे चीरकर भ्रष्ट आचरण की दुर्गंध को सूंघ सकता था।

गोखले के निजी मेहमान के रूप में गांधी जी लगभग एक माह कलकत्ते में रहे। कलकत्ता तब भारत का प्रमुख महानगर था—राजनीतिक अर्थ में, और उससे कुछ कम सांस्कृतिक अर्थ में नहीं। इसलिए वे स्वाभाविक रूप से नगर को थोड़ा-बहुत देखने और कुछ प्रमुख व्यक्तियों से मिलने के लिए आतुर थे। उन्होंने काली के प्रसिद्ध मंदिर की बात सुनी थी, वे उसे देखने गए। लेकिन मंदिर में देवी को प्रसन्न करने के लिए रोजाना बकरों की कुरबानी दी जाती थी। वहां 'खून की नदियों' का भयानक दृश्य देखकर उनको वितृष्णा हुई और जी मितलाने लगा। वे इस दृश्य को कभी नहीं भूले और बरसों बाद 1932 में यरवदा जेल में उन्होंने अपने मित्र-सचिव महादेव देसाई से कहा था : 'स्वराज्य मिलने के बाद भी अनेक सत्याग्रह आंदोलन चलेंगे। अकसर मुझे यह विचार आया है कि स्वराज्य की स्थापना के बाद मैं कलकत्ता जाऊंगा और धर्म के नाम पर दी जा रही पशु-बलि को रोकूंगा। कालीघाट के बकरे तो हरिजनों से भी बदतर हैं। वे अपने सींगों से मनुष्यों पर हमला नहीं कर सकते। वे कभी अपने बीच से कोई अंबेडकर पैदा नहीं कर सकते। जब मैं ऐसी हिंसा की बात सोचता हूं, मेरा खून खौलने लगता है। वे लोग बकरों की जगह शेरों की बलि क्यों नहीं देते ?'

उन्हें इस बात से निराशा हुई कि वे स्वामी विवेकानंद से या महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर से नहीं मिल सके। कारण कि दोनों इतने बीमार थे कि मेहमानों का स्वागत नहीं कर सकते थे। ताज्जुब कि किसी ने उनसे यह नहीं बतलाया कि महर्षि के पुत्र रवींद्रनाथ भी मिलने के योग्य थे। इस प्रकार गांधी जी द्वारा इस बंधु की खोज कोई चौदह वर्षों के लिए टल गई। वे एक ऐसे समकालीन से मिलकर निश्चित ही प्रसन्न होते जो कालीघाट के उसी मंदिर में पशुबलि के घृणित कर्मकांड से उसी तरह वितृष्णा का अनुभव कर चुका था, और वह भी कई साल पहले।

युवक गांधी ने राजकोट के हाईस्कूल से जब मैट्रिक किया था, उससे भी दो साल पहले, 1885 में ही रवींद्रनाथ पशुबलि के खिलाफ हिंदुओं की आत्मा को जगाने के लिए अपना हृदयस्पर्शी उपन्यास **राजर्षि** लिख रहे थे। उनके तीन साल बाद एक शक्तिशाली नाटक **विसर्जन** प्रकाशित हुआ जिसका अंग्रेजी अनुवाद **सैक्रिफाइस** के नाम से जाना जाता है। लेकिन उस समय यह बंगाली कवि, जो पहले ही नोबल पुरस्कार दिलाने वाले अनेक गीत लिख चुका था, पाठकों और साहित्यसमालोचकों के एक छोटे से दायरे के बाहर कम ही जाना जाता था; इनमें भी बहुत से उसके आलोचक थे।

राजकोट वापस आते समय गांधी जी वाराणसी और कुछ दूसरे नगरों में रुके। उन्होंने सबसे निचली श्रेणी के यात्रियों के कष्टों को स्वयं महसूस करने और

उनमें भाग लेने के लिए तीसरे दर्जे में सफर किया। उन्होंने समझा कि भारत में तीसरे दर्जे की यात्रा की घोर तकलीफ का बहुत कुछ कारण यह था कि खुद यात्रियों की गंदी आदतों के प्रति रेलवे के अधिकारी उदासीन थे। उन्होंने सुझाव दिया की शिक्षित लोग खुद भी स्वेच्छा से तीसरे दर्जे में सफर करें ताकि वे जनता की आदतों को सुधार सकें और उनकी माकूल शिकायतों पर आवाज उठा सकें। यह भावुकतारहित निदान और यह कड़वा उपचार तमाम सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति गांधी जी के दृष्टिकोण का विशेष लक्षण था—खुद इसे करो और हीन से हीन के लिए अधिक से अधिक प्रयास करो !

उन्होंने राजकोट में ही बस जाना चाहा और वहां कानूनी पेशा भी करने लगे। लेकिन जल्द ही उन पर दबाव पड़ने लगा कि वे अपना दफ्तर मुंबई ले जाएं जहां बैरिस्टर और जनसेवक, दोनों रूपों में उनको बेहतर अवसर मिलेंगे। लेकिन भाग्य को कुछ और ही मंजूर था। अभी गांधी जी का घर मुश्किल से बसा था और पेशे से उनको संतोष का अनुभव होना आरंभ ही हुआ था कि डरबन से उनको एक समुद्री तार मिला। उनसे प्रार्थना की गई थी कि बिना देर किए लौटें और उस प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व करें जो जोसेफ चैंबरलेन से मिलने के लिए जानेवाला था। तब आशा थी कि चैंबरलेन जल्द ही वहां आनेवाले थे। इसलिए अपने परिवार को पीछे छोड़कर गांधी जी एक बार फिर उस अभिशप्त देश की यात्रा पर चल पड़े।

फिर रणभूमि में

जिस प्रतिनिधिमंडल का नेतृत्व करने के लिए गांधी जी डरबन दौड़े गए थे, उसका कोई नतीजा नहीं निकला। ब्रिटिश विदेश सचिव उपनिवेशों का दौरा भारतीयों की शिकायतें सुनने के लिए नहीं बल्कि यूरोपीयों को खुश करने के लिए कर रहा था जिनसे उसे 3.5 करोड़ स्टर्लिंग का तोहफा मिलने की उम्मीद थी। लेकिन गांधी जी इतनी आसानी से टलने वाले नहीं थे। उन्होंने चैंबरलेन का पीछा ट्रांसवाल तक किया जो अब बोअर युद्ध के बाद ब्रिटेन का एक उपनिवेश बन चुका था।

उन्होंने पहले ट्रांसवाल का दौरा तब किया था जब वे पहले-पहल दक्षिण अफ्रीका में पहुंचे थे। उन्हें पता था कि नस्ली दंभ के लिए बदनाम बोअर शासन के अंतर्गत भारतीयों की दशा नेटाल से भी बुरी थी। लेकिन अब जबकि वह उपनिवेश ब्रिटिश प्रशासन में था, उन्हें उम्मीद थी कि उनके देशवासियों के कष्ट काफी कम हो जाएंगे। उन्हें यह विश्वास था कि अंग्रेज हाल के युद्ध में भारतीयों की स्वैच्छिक सेवा को भुला नहीं सकते थे। लेकिन यह जानकर उनको धक्का लगा कि अपमानजनक प्रतिबंध कम होना तो दूर, अब और भी कड़े और क्षोभजनक बननेवाले थे।

उन्हें धक्का लगा और दुख हुआ मगर मोहभंग नहीं हुआ। अंग्रेजों की न्याय की भावना और औचित्यपूर्ण व्यवहार में तथा साम्राज्य के श्रेष्ठ और महान उद्देश्यों में उनकी आस्था अभी भी बहुत गहरी थी। अगर सच्चाई के बारे में अंग्रेजों की आखें खुल सकें तो वे निश्चित ही अपने को सुधारेंगे। इस बीच भारतीयों का मनोबल बनाए रखना और उसे मजबूत बनाना जरूरी था।

वे डरबन में भारतीय समुदाय की फौरी पुकार पर जब 1902 के अंत में जल्दी में मुंबई से चले थे तब उन्हें पूरी आशा थी कि कोई एक बरस में वे घर लौटकर अपने परिवार से मिल सकेंगे जिसे उन्हें पीछे छोड़ना पड़ा था। लेकिन जैसे-जैसे दिन गुजरते गए, उन्हें पता चला कि समस्या आसान होने की बजाय और कठिन होती जा रही है और संघर्ष का क्षेत्र भी फैल रहा था। नस्ली भेदभाव का गंदा पानी तेजी से फैल रहा था और दक्षिण अफ्रीका में उनके देशवासियों के सम्मान और सुरक्षा-भाव को पूरी तरह डुबो देने के खतरे पैदा कर रहा था। इस खतरे के सामने रहते हुए चालक भला जहाज को बेसहारा कैसे छोड़ सकता था ?

इसलिए गांधी जी ने अपने स्थान पर बने रहने का फैसला किया। इस बार उन्होंने जोहान्सबर्ग में अपना घर और दफ्तर बनाया जहां उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में एक वकील के रूप में खुद को नामदर्ज कराया। अब ट्रांसवाल में उनकी मौजूदगी की फौरी जरूरत थी जहां टकराव तेजी से बढ़ता जा रहा था। गांधी जी हमेशा रणभूमि के बीच में रहना पसंद करते थे।

इस प्रकार उस 'ईश्वर द्वारा विस्मृत' क्षेत्र में उनका तीसरा पड़ाव और जेहाद आरंभ हुआ जहां उन्हें अपना ईश्वर प्राप्त हुआ। इस बार उन्हें कुछ खास मनाना नहीं पड़ा। वे पहले से ही जनता के ध्येय से जुड़े हुए थे। न ही उन्हें किसी प्रतिधारण शुल्क का आश्वासन चाहिए था। वे एक समर्थ और ईमानदार वकील के रूप में पहले से ही अपने समुदाय के बीच प्रतिष्ठित थे। जल्द ही उनके पास इतना काम आ गया जो अकेले उनके बस से बाहर था।

डरबन की तरह जोहान्सबर्ग में भी उनकी गतिविधियां बहुमुखी थीं। उनका मुख्य सरोकार अपने समुदाय की सेवा करना था। जैसे अपनी जनता में उसके बुनियादी अधिकारों की चेतना पैदा करना, उनको एकजुट कार्यवाही के लिए तैयार करना, और उनकी दमित और हतोत्साहित आत्माओं में साहस और आस्था का संचार करना। कानूनी पेशा उनके लिए महज अपने ध्येय को जारी रखने की शक्ति बनाए रखने का साधन था।

लेकिन उनके घर और दफ्तर हालांकि ट्रांसवाल में थे मगर वे नेटाल के व्यापकतर भारतीय समुदाय के हितों को अनदेखा या उपेक्षित नहीं कर सके। नतीजा यह हुआ कि अब उनको पहले के मुकाबले कहीं बहुत बड़े क्षेत्र पर ध्यान देना पड़ रहा था। जिन श्रोताओं को उन्हें संबोधित करना और समझाना-बुझाना पड़ता था वे न सिर्फ बिखरे हुए थे बल्कि उनमें भारी अंतर भी पाए जाते थे। इनमें उनके अपने विविधतापूर्ण समुदाय के अलावा दो गोरे समुदाय भी शामिल थे—ब्रिटिश नौकरशाहों की शासक जाति, तथा चिड़चिड़े और नस्ली दंभ के शिकार बोअर जो पुराना हिसाब बराबर करने के लिए कुलबुला रहे थे। उनका अपना समुदाय भी बिखरा हुआ और असंगठित था जिसमें अनेक स्तर थे और अनेक राग अलापनेवाले थे। इतने व्यापक और विविधतापूर्ण श्रोतावर्ग से वे घनिष्ठ और निरंतर संपर्क कैसे बनाकर रखें ?

वे इसी दुविधा में थे कि 1903 में उनके पास डरबन से एक बहुभाषी साप्ताहिक पत्र आरंभ करने का प्रस्ताव आया। उन्होंने प्रस्ताव का समर्थन किया। इस प्रकार साप्ताहिक **इंडियन ओपीनियन** का जन्म हुआ जो अंग्रेजी, गुजराती, हिंदी और तमिल, चार भाषाओं में छपता था। गांधी जी न पूरी तरह इसके स्वामी थे और न इसके औपचारिक संपादक थे। फिर भी संपादन करने और खर्च उठाने, दोनों की मुख्य जिम्मेदारी उन्हीं पर आई।

उन्होंने दूसरे हरेक कार्य को जिस तरह हाथ में लिया था उसी तरह बहुत गंभीरता के साथ उन्होंने इसे भी हाथ में लिया। उन्होंने पत्रकारिता के बाहरी अनुशासन, नियमों और तकनीकों ही नहीं बल्कि पेशे की भावना को भी स्वीकार किया। 'मैंने **इंडियन ओपीनियन** के पहले माह में भी महसूस किया कि सेवा पत्रकारिता का एकमात्र उद्देश्य होना चाहिए। समाचारपत्र एक महान शक्ति होते हैं मगर जिस तरह पानी की एक उच्छृंखल धारा पूरे गांव को डुबो देती और फसलें तबाह कर देती है, उसी प्रकार एक अनियंत्रित लेखनी भी मात्र विध्वंस का कारण बनती है। अगर यह नियंत्रण बाहर से हो तो यह नियंत्रण के अभाव की अपेक्षा अधिक जहरीला साबित हो सकता है। यह तभी लाभकर हो सकता है जब यह अंदर से उपजे।'

अगले वर्ष 1904 में जोहान्सबर्ग में भारतीयों की बस्ती में एकाएक ताऊन फूट पड़ा। 'बस्ती' कहलाने के बावजूद यह वास्तव में एक 'घेटो' थी जहां 'कुली' लोग नगरपालिका के किरायेदारों के रूप में गंदे वातावरण में एक साथ ठूंस दिए गए थे; उनका भूमि का स्वामित्व पहले ही छीन लिया गया था। उनमें से कुछ तो पास ही एक सोने की खदान में काम करते थे जहां वे साथ काम करनेवाले नीग्रो मजदूरों के संपर्क से काले ताऊन के शिकार हुए थे।

खबर जैसे ही गांधी जी तक पहुंची, वे अपनी साइकिल पर बैठे और बस्ती की ओर चल पड़े। वहां उन्होंने फौरन ही उन तेईस बीमारों को अपने संरक्षण में ले लिया जिनको एक खाली मकान में सबसे अलग रखा गया था; इस मकान का ताला भी तोड़ना पड़ा था। कुछ भारतीय मित्रों की स्वैच्छिक सहायता और सुहृदय डा. ग्राडफ्रे के मार्गदर्शन में गांधी जी ने रात-दिन बीमारों की सेवा की; वहां इन सबने बहादुरी से इस खतरे का मुकाबला किया। इन बीमारों में कुल दो ही बचाए जा सके। शेष और साथ में नगरपालिका द्वारा भेजी गई नेकदिल गोरी नर्स भी इस घातक रोग के शिकार हो गए।

पत्र-पत्रिकाओं के नाम एक चिट्ठी में गांधी जी ने नगरपालिका को निमर्म उपेक्षा का दोषी ठहराया और उसे ताऊन के फूटने का जिम्मेदार बतलाया। गांधी जी का आरोप अकाट्य था तथा ऐसे औचित्य और साहस के साथ लगाया गया था कि जोहान्सबर्ग के अनेक गोरे निवासी उनके प्रशंसक बन गए। इनमें से कुछ तो जीवन भर उनके मित्र और सहयोगी रहे।

अल्बर्ट वेस्ट उनमें से एक थे। ये एक स्थानीय छपाई की फर्म में साझीदार थे और गांधी जी उन्हें पहले से ही जानते थे। कारण कि वे भी गांधी जी वाले शाकाहारी रेस्तरां में जाते थे और शाम को टहलते समय उनका साथ देते थे। जब वेस्ट ने ताऊन की खबर सुनी तो फौरन उन्होंने मरीजों की सेवा-सुश्रुषा में सहायता देने की पेशकश की। लेकिन गांधी जी उन्हें किसी अनावश्यक जोखिम में नहीं

डालना चाहते थे। इसलिए उन्होंने कहा कि वेस्ट इसकी बजाय डरबन जाएं और **इंडियन ओपीनियन** को संभालें। वेस्ट इस पर राजी हो गए और अगले दिन डरबन के लिए चल पड़े। 'उस दिन से लेकर मेरे दक्षिण अफ्रीका का समुद्रतट छोड़ने के समय तक वे मेरे सुख-दुख के साथी रहे हैं।'

निजी जिज्ञासाएं

इस पूरे काल में गांधी जी की व्यावसायिक और राजनीतिक प्रतिबद्धताएं चाहे जो रही हों, उन्होंने अपनी निजी जिज्ञासाओं को भी कुछ कम उत्साह से पूरा नहीं किया। ये जिज्ञासाएं दो प्रकार की थीं। एक का संबंध आत्मा के आंतरिक जीवन से था तो दूसरी का शरीर की उचित देखभाल से। यह कहना अधिक सही होगा कि गांधी जी के लिए केवल एक जिज्ञासा थी हालांकि उसके दो पक्ष दिखाई देते थे। नैतिक नियमों के अनुरूप कर्म करना और स्वास्थ्य या प्रकृति के नियमों के अनुसार जीना उनके विचार में सत्य की एकचित्त खोज के अंगों के रूप में आपस में जुड़े हुए थे।

लंदन में वे अंग्रेज ईसाइयों, थियोसोफिस्टों और दूसरे समर्पित 'झक्कड़ों' के संपर्क में आए थे तो अपनी शाकाहारी जिज्ञासा के कारण। उसके बाद उन्होंने ईमानदारी से सामाजिक आचरण के बौद्धिक औचित्य से परिपूर्ण नैतिक आधार और उसी के साथ अंतःकरण से पहचानी जा सकने वाली धार्मिक आस्था की खोज की। उनको लगता था कि इन दोनों के बीच जीवंत संबंध है जैसे एक पहाड़ी धारा का एक स्थायी झरने से या बर्फीले पहाड़ से होता है। कारण कि अगर नैतिक मूल्य आचरण को दिशा और मानदंड प्रदान करते हैं तो धार्मिक आस्था अक्षुण्ण शक्ति का स्रोत होती है। यही वे मानते और इसी की खोज करते थे।

पहले लंदन और फिर डरबन में अपने ईसाई और थियोसोफिस्ट संपर्कों के कारण ही उनका बाइबिल और भागवद्गीता, दोनों से परिचय हुआ था। ईसा के व्यक्तित्व ने उन पर गहरा प्रभाव डाला था और उसमें तथा पर्वत पर दिए गए उपदेश में उनको आध्यात्मिक प्रेरणा और नैतिक मार्गदर्शन, दोनों की प्राप्ति हुई थी।

लंदन की तरह अब जोहान्सर्ग में भी उनको थियोसोफिस्टों की संगत सुखकर लगती थी। हिंदू धर्मग्रंथों और खासकर गीता में उनकी दिलचस्पी गांधी जी को शक्ति के एक अधिक गहरे स्रोत की तलाश में अपने खुद के धर्म की ओर देखने की प्रेरणा देती थी। गीता में मन की मुक्ति की शर्त के रूप में 'अस्वामित्व' और 'समता' पर जो जोर दिया गया है उसने उन पर गहरा प्रभाव डाला और उनको

सोच-विचार पर मजबूर कर दिया।

अभी हाल में जब वे बंबई में ठहरे थे तो वे एक अमरीकी बीमा एजेंट के चक्कर में आ गए थे कि वे 10,000 रुपए की जीवन बीमा पालिसी ले लें। अब उन्हें हैरानी होती थी कि क्या ऐसी सुविचारित सुरक्षा ईश्वरीय शक्ति में विश्वास से मेल भी खाती थी। 'दुनिया के अनगिनत गरीबों के परिवारों का क्या होता रहा है ? मैं खुद को भी उनमें क्यों न गिनूं ?'

गांधी जी के लिए विश्वास का मतलब कर्म था। फिर तो उन्होंने बीमा पालिसी को जब्त हो जाने दिया। उनके भाई उनसे इतने नाराज हुए कि लगभग उन्हें त्याग ही दिया और उनसे सारी बातचीत बंद कर दी। इसमें भी शक नहीं कि उनकी पत्नी भी इसे अपने बच्चों के भविष्य के प्रति जानबूझ कर की गई लापरवाही मानकर दुखी हुई होंगी। लेकिन गांधी जी एक बार कोई इरादा कर लेते थे तो कुछ भी उसमें बाधक नहीं हो सकता था।

स्वास्थ्य के नियमों के प्रति उनका सरोकार भी कुछ कम स्थायी नहीं था। इसे वे प्रकृति के अनुरूप जीवन बिताना समझते थे हालांकि कुछ लोग इसे सनक भी कह सकते थे और कुछ ने तो कहा भी। इनमें उनका शाकाहार-प्रेम, उनके भोजन संबंधी प्रयोग, कटि स्नान और कीचड़ की पुटलियों में उनकी आस्था, तथा दवाओं और अन्य एलोपैथिक उपचारों के प्रति उनकी घृणा भी शामिल थीं। कुह्न की जलीय उपचार की पैरवी और जस्ट की 'प्रकृति की ओर वापसी' ने उन पर भारी प्रभाव डाला था। हाल में बंबई में निवास के दौरान उन्होंने अपने पुत्र मणिलाल पर जो टाइफाइड और निमोनिया से बुरी तरह बीमार थे, कुह्न के उपचार का सफल प्रयोग किया था। बाद के अनुभवों ने उनकी आस्था की पुष्टि ही की और यह आस्था जीवन भर उनके साथ रही।

यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि 'भारतीयता' पर गांधी जी के बढ़ते गर्व के बावजूद गांधी जी के नैतिक और मानसिक दृष्टिकोण पर पड़नेवाले सबसे मूलगामी प्रभाव अधिकतर उनके पश्चिमी संपर्कों से उपजे थे, हालांकि संभव है कि ये संपर्क अपने-आपमें खास पाश्चात्य न रहे हों। स्वास्थ्य के नियमों और सफाई पर उनके गहरे ध्यान, उनकी भोजन संबंधी आदतों और प्रयोगों, नियमबद्धता के प्रति उनके आग्रह और हरेक वस्तु के कारण और परिणाम में उनकी अनंत जिज्ञासा-इन सबको मुश्किल से ही उनकी परंपरागत हिंदू पृष्ठभूमि की विरासत कहा जा सकता है। उनकी नैतिक संवेदना और धार्मिक चेतना को भी ईसा, तालस्ताय, रस्किन और थोरो से कम से कम उसी सीमा तक प्रभावित माना जा सकता है जिस सीमा तक जैन धर्म और गीता से तथा उनके गुजराती जौहरी-मित्र रायचंदभाई के सिखाए हुए पाठों से। आगे चलकर गांधी जी ने कटिवस्त्र धारण किया तो उनकी भारतीयता में अतिश्योक्ति का तत्व जुड़ गया जो एक प्रकार से भ्रामक था।

इन प्रभावों के अलावा गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में निवास के दौरान यूरोपीयों से जो वैयक्तिक मित्रता बनाई थी उसे भी वह प्यार से संजोकर रखते थे। वे अंत तक उनके वफादार दोस्त रहे। गांधी जी ने उनको प्रभावित भी किया और उनसे कुछ सीखा भी। जोहान्सबर्ग में ताऊन की महामारी के दौरान उनकी बहादुराना भूमिका के कारण उन्हें दो वफादार दोस्त मिले तो दक्षिण अफ्रीका में उनके शेष जीवन के दौरान उनके सहयोगी बने रहे। एक थे अल्बर्ट वेस्ट जिनका हवाला दिया जा चुका है और जो **इंडियन ओपीनियन** को संभालते थे। दूसरे थे एक अंग्रेज युवक हेनरी पोलक जो तब **ट्रांसवाल क्रिटिक** के संपादकीय विभाग में कार्यरत थे।

नगरपालिका अधिकारियों के बारे में गांधी जी की गंभीर और खुली आलोचना से पालक इतने प्रभावित हुए कि उनसे मिलने का अवसर ढूंढ़ने लगे। पोलक खुद भी एक शाकाहारी, पक्के तालस्तायवादी और जस्ट की 'प्रकृति की ओर वापसी' के गंभीर अनुयायी थे। इस कारण जब दोनों मिले तो फौरन ही एक-दूसरे को विचारों से सजातीय मान बैठे। जल्द ही पोलक ने **ट्रांसवाल क्रिटिक** से नाता तोड़ लिया और एक प्रशिक्षार्थी कल्र्क बनकर गांधी जी के दफ्तर में आ गए। उसके बाद गांधी जी जब तक दक्षिण अफ्रीका में रहे, पोलक पेशे और जनसेवा, दोनों में उनका दायां हाथ बने रहे। भोजन संबंधी सनक और प्रकृति-चिकित्सा के प्रयोगों में भी उन्होंने गांधी जी का साथ कुछ कम नहीं दिया।

जब पोलक की मंगेतर मिली ग्राहम इंग्लैंड से आई तो गांधी जी उनके विवाह के अवसर पर सहबाला (बेस्ट मैन) बने। शायद यह पहला मौका था जब एक काला आदमी यूरोपीय विवाहों के रजिस्ट्रार को बहुत कुछ उद्वेलित करता हुआ गोरों के किसी विवाह का प्रमुख साक्षी बना था। पोलक-दंपत्ति गांधी परिवार के अंतरंग मित्र थे और उनके संस्मरण उस काल में गांधी जी के रोजमर्रा के घरेलू जीवन और व्यक्ति के रूप में स्वयं गांधी जी के बारे में हमारे पास मौजूद सबसे प्रामाणिक दस्तावेज हैं। कारण कि मिली एक गहरी नजर रखनेवाली प्रेक्षिका थीं और अपने खुद के विचार रखती थीं।

हेनरी पोलक ने ही गांधी जी का परिचय रस्किन की रचना **अनटू दिस लास्ट** से कराया जिसने उन पर इस कदर गहरा प्रभाव डाला था। गांधी जी **इंडियन ओपीनियन** के बारे में समय समय पर डरबन जाते रहते थे। एक बार वे इसी तरह डरबन जा रहे थे और पोलक उन्हें विदाई देने जोहान्सबर्ग रेलवे स्टेशन तक उनके साथ गए। स्टेशन पर उन्होंने रास्ते में पढ़ने के लिए रस्किन की किताब दी। 'मुझे ख्याल भी नहीं था कि इसके परिणाम कितने दूरगामी होंगे।' पुस्तक खोलने के बाद गांधी जी उसे समाप्त करने से पहले बंद नहीं कर सके।

उन्होंने पाया कि रस्किन की प्रस्थापना उनके लिए कुछ अत्यंत गहरे विश्वासों

को व्यक्त करती थी—इतनी स्पष्टता और इतनी विविधता के साथ जितनी स्पष्टता और विविधता के साथ वे स्वयं उनका निरूपण नहीं कर पाए थे। रस्किन का तर्क था कि किसी समुदाय की सच्ची संपत्ति उसके सभी सदस्यों के कल्याण में निहित होती है और व्यक्ति का कल्याण समष्टि के कल्याण का अंग होता है—'उसी तरह आखिरी व्यक्ति तक जिस तरह तुम तक।' सभी कार्यों का समान महत्व होता है और हज्जाम का काम वकील के काम से कुछ कम अहम नहीं होता। यह भी कि खेत या दस्तकारी में हाथों से काम करनेवाले का जीवन सबसे उपयोगी जीवन होता है। आगे चलकर जब गांधी जी ने इस पुस्तक का गुजराती अनुवाद किया तो उसका शीर्षक **सर्वोदय** (सबका उदय या कल्याण) रखा। यह ऐसा शब्द है जो गांधी जी के सामाजिक-आर्थिक सुधार संबंधी आदर्श का प्रतीक बनकर पूरे भारत में प्रचलित है।

गाड़ी जब तक डरबन पहुंची, गांधी जी इन सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देने का निश्चय कर चुके थे। उन्होंने 100 एकड़ का एक टूटा-फूटा फार्म खरीदा जिस पर एक छोटा-सा सोता था और कुछ फलदायी पेड़ थे। अपने मित्र अल्बर्ट वेस्ट और कुछ सहकर्मियों की सहायता से वे एक शेड खड़ा करके **इंडियन ओपीनियन** का दफ्तर प्रेस समेत उसमें ले गए और लंबी लंबी घासों वाले, सांपों से भरे उस वीरान इलाके को उन्होंने एक ऐसी बस्ती का रूप दे दिया जहां सभी सहकर्मी अपने हाथों की मेहनत की खाते थे। उनमें हरेक को जमीन का एक टुकड़ा दिया गया था और तीन पाउंड का मासिक भत्ता दिया जाता था। यह बस्ती जो डरबन से चौदह और फोनिक्स स्टेशन से ढाई मील दूर थी, फोनिक्स बस्ती के नाम से मशहूर हुई।

गांधी जी भले ही इस जीवन में हिस्सेदारी करना चाहते रहे हों, उनको जोहान्सबर्ग लौटना पड़ा। वहां जनसेवा और कानूनी पेशे, दोनों के लिए उनकी मौजूदगी जरूरी थी। भाग्य उनको किसान नहीं, योद्धा बनाने का निश्चय कर रहा था, हालांकि आगे चलकर जब कभी किसी अदालत में एक मुल्जिम के रूप में उनको अपना पेशा लिखवाना पड़ता था, वे खुद को 'किसान और बुनकर' कहना पसंद करते थे। उन्हें भाग्यहीन और असहाय व्यक्तियों के एक विषमांग समूह को प्रतिरोध-सेना के रूप में संगठित करना था। इस कारण उनके लिए इतना कमाना भी जरूरी था कि वे अपने परिवार को ही सहारा नहीं दे सकें बल्कि **इंडियन ओपीनियन** और फोनिक्स बस्ती को भी जारी रख सकें।

जोहान्सबर्ग का घर

अब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में लगभग अनिश्चित काल तक ठहरने के लिए तैयार थे। इसलिए उनके पास भारत से अपने परिवार को बुलाने के अलावा कोई चारा भी नहीं था। श्री और श्रीमती पोलक भी गांधी जी के जोहान्सबर्ग के घर के अंग थे। यह घर डरबन के पिछले घर से बहुत भिन्न था जहां युवा बैरिस्टर अपने पेशे की सामाजिक गरिमा और अपनी स्थिति के प्रति असजग नहीं था।

जोहान्सबर्ग का घर बड़ी किफायत से चलता था। इसमें कम से कम फर्नीचर था और नौकर कोई नहीं था। रोटी घर पर पकती थी और आटा हाथ से पीसा जाता था। रोज सुबह एक अनुष्ठान होता था जिसमें परिवार के प्रत्येक पुरुष सदस्य को शामिल होना पड़ता था। लेकिन सादे जीवन के बावजूद यह घर मैत्री और आनंद से संपन्न था। श्रीमती पोलक लिखती हैं : 'पिसाई की आवाज में बातचीत और ठहाके भी शामिल होते थे क्योंकि उन दिनों इस घर में ठहाके बड़ी आसानी से उठते रहते थे। कूदफांद अभ्यास का एक और रूप था जिसमें श्रीगांधी सिद्धहस्त थे।' अब गांधी जी ने सुबह का नाश्ता छोड़ दिया था। अब वे सुबह-शाम घर से दफ्तर की छह मील की दूरी पैदल तय करते थे।

भोजन संबंधी प्रयोगों का कोई अंत नहीं था। कारण कि गांधी और पोलक इस विषय में समान उत्साह रखते थे। उनकी पत्नियां इससे मनोरंजित होती थीं हालांकि इसमें झुंझलाहट भी होती थी। कुछ माह तक नमक के साथ कुछ भी नहीं पकाया गया। उसके बाद शक्कर छोड़ने का दौर आया। "उसके बाद लगभग पूरी तरह 'अनपके' भोजन का दौर आया जिसे जैतून के तेल के साथ परोसा जाता था ...भोजन के तत्वों पर बड़ी संजीदगी से बहस होती थी, और मानव-शरीर पर और उसके नैतिक गुणों पर उनके प्रभाव की गहरी छानबीन होती। कुछ समय तक रक्तशोधक के रूप में कच्चे कटे हुए प्याज नियमित रूप से हमारे भोजन में शामिल रहे। मुझे तो यहां तक बतलाया गया कि श्रीगांधी और मेरे आने से पहले तक जोहान्सबर्ग के एक शाकाहारी रेस्तरां में नियमित रूप से जानेवाले कुछ दूसरे मित्र सलाद में स्पेनी प्याजों के इतने शौकीन थे कि उन्होंने मजाक में खुद को प्याजखोरों के एकीकृत संघ का रूप दे दिया था। आखिरकार श्रीगांधी इस नतीजे पर पहुंचे

कि प्याज भावनाओं के लिए खतरनाक हैं और इस कारण प्याज को छोड़ दिया गया। श्रीगांधी ने कहा कि दूध भी मानव-जीवन के 'भावात्मक' पक्ष को प्रभावित करता है और इसलिए दूध का भी इसी तरह त्याग किया गया।''

गांधी जी के सहकर्मी और अदालतें भी वकील के रूप में उनको भारी आदर देती थीं—कानून के गहरे ज्ञान के लिए और उनके व्यक्तित्व की अखंडता के लिए भी। यह मशहूर था कि वे कभी अपनी जानकारी में झूठ नहीं बोलेंगे और जिस मुवक्किल के निर्दोष होने का निजी तौर पर विश्वास न हो उसकी पैरवी कभी नहीं करेंगे। अगर मुकदमे के बीच में उन्हें लग जाता कि उनके मुवक्किल ने उनको धोखा दिया है तो वे वहीं कागज-पत्र फेंक देते, अदालत से क्षमा प्रार्थना करते और कमरे से बाहर चले जाते। 'हर मुवक्किल को पहले से इसकी चेतावनी दी जाती थी और वह इसी आधार पर उनकी सेवाएं प्राप्त करता था।'

श्रीमती पोलक ने एक घटना बयान की है जिसमें चोरी के एक मुल्जिम ने गांधी जी से बचाव की प्रार्थना की। उसने खुद को निर्दोष कहा मगर गहरी पूछताछ के बाद उसे मानना पड़ा कि उसने चोरी की थी। 'लेकिन तुमने ऐसा क्यों किया ?' गांधी जी ने पूछा। उस आदमी का जवाब था : 'मुझे भी तो जीना है।' गांधी जी ने हलके से दोहराया : 'तो तुम्हें जीना है ? क्यों ?' अगर कोई सम्मान से नहीं जी सकता तो जिए ही क्यों ? इस और दूसरे मुआमलों में गांधी जी का दृष्टिकोण यही था।

श्रीमती पोलक कहती हैं : 'उसके बाद मैंने अकसर उस घटना तथा उसके अंत में श्रीगांधी के 'क्यों' के बारे में सोचा है। यह उनके सोचने के ढंग का किस कदर पता देता था ! क्यों जीना है तुम्हें ? तुम जीवन में क्या योगदान कर रहे हो ? ये ही प्रश्न हमेशा उनके सामने रहते थे।'

लेकिन निजी जीवन संबंधी प्रयोगों का यह अपेक्षाकृत सुखकर और शांतिपूर्ण अंतराल अल्पकालिक रहा।

जुलू विद्रोह और उसके बाद

फरवरी 1906 में तथाकथित जुलू विद्रोह फूट पड़ा। गांधी जी को इस संघर्ष की प्रकृति के बारे में कोई भ्रम नहीं था। यह समुचित सैनिक कार्रवाई की जगह मानव-हत्या थी। उनका अपना दिल जुलू लोगों के पक्ष में था जो बेगुनाह थे, गलत समझे जा रहे थे और जिनका अपने ही देश में पशुओं की तरह पीछा किया जाता था। लेकिन उस समय वे ईमानदारी से मानते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य का 'अस्तित्व विश्व-कल्याण के लिए है' और उसके प्रति उनकी निष्ठा इतनी ठोस थी कि सबसे बड़ा महत्व किसी ध्येय के उचित या अनुचित होने का नहीं, साम्राज्य के हितों का था। इसलिए उन्होंने बोअर युद्ध की ही तरह फिर एक बार एक भारतीय एंबुलेंस कार्प्स के गठन के लिए अपनी और अपने समुदाय की सेवाएं प्रस्तुत कीं।

अधिकारियों ने इस पेशकश को स्वीकार किया। लेकिन गोरों के दंभ और अशोभनीय क्रोध का संकेत **नेटाल एडवर्टाईजर** में एक संवाददाता के इस सुझाव से मिलता था : 'भारतीयों को सामने की कतारों में रखा जाना चाहिए ताकि वे भाग न सकें और तब उनके और स्थानीय लोगों के बीच होनेवाला युद्ध देवताओं के लिए भी दर्शनीय होगा।' अपने पत्र **इंडियन ओपीनियन** में इस पर टिप्पणी करते हुए गांधी जी ने अपनी खास शैली में सुझाव दिया कि 'अगर ऐसा रास्ता अपनाया जाए तो निश्चित ही यह भारतीयों के लिए सर्वोत्तम होगा। अगर वे कायर होंगे तो जो उनका हश्र होगा वे उसके पात्र होंगे, और अगर वे बहादुर हैं तो बहादुरों के लिए अगली कतार में होने से अच्छा कुछ भी नहीं हो सकता।'

ये गोरे कितने बहादुर थे, इसे गांधी जी ने तब अपनी आंखों देखा जब उनका एंबुलेंस कार्प्स 'विद्रोह' की स्थली पर पहुंचा। उन्हें कहीं भी सशस्त्र प्रतिरोध नजर नहीं आया। यह वास्तव में टैक्सबंदी का अभियान था जिसे शासकों ने 'विद्रोह' का नाम दिया था और इसलिए अमानवीय पशुता के साथ वे उसके दमन को उचित समझते थे। उनका एंबुलेंस कार्प्स घायल विद्रोहियों को नहीं बल्कि पकड़े गए जुलू लोगों को ढोता और उनकी तीमारदारी करता था। ये लोग बेरहमी से कोड़े मारे जाने के कारण जख्मी होते थे और उनकी कटी हुई त्वचा को सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता था क्योंकि कोई भी गोरी नर्स उनको

छूने के लिए तैयार नहीं थी।

जैसा कि गांधी जी ने कहा है, चिकित्साधिकारी ने 'हमारे पहुंचने को उन बेगुनाह लोगों के लिए ईश्वरीय वरदान समझा, और उसने हमें पट्टियों, कीटाणु मारने की दवाओं आदि से लैस किया, और हमें कामचलाऊ अस्पताल में ले गया। जुलू हमें देखकर खुश हुए। गोरे सिपाही उन जंगलों से झांका करते थे जो हमारे और उनके बीच थे, और हमें घायलों की तीमारदारी से दूर रखने की कोशिश करते थे। और जब हम उनकी बात पर ध्यान नहीं देते तो वे क्रोधित हो उठते और जुलू लोगों को अकथनीय गालियां देने लगते।'

एक दुर्गम इलाके से कभी कभी एक दिन में चालीस मील चलना, स्ट्रेचर ढोना और घुड़सवारों के पीछे पीछे भागना और अंत में देखना कि शांतिपूर्ण बस्तियों पर हमले हुए हैं, बेगुनाह लोगों को घसीटा, लातों से मारा और कोड़ों से पीटा गया है—यह सब एक भयानक और कचोटनेवाला अनुभव था। 'लेकिन मैंने इस कड़वे घूंट को पी लिया, खासकर इसलिए कि मेरे कार्प्स का काम केवल घायल जुलूओं की तीमारदारी करना था।'

इंसान के साथ इंसान की दरिंदगी का यह रोजमर्रा का दृश्य, कठिन अभियान और तनहाई के लंबे दौरों ने गांधी जी के अपने मन में संकट पैदा कर दिया। वे पिछले कई सालों से जीवन के अर्थ और उद्देश्य पर तथा समाज में मनुष्य के कर्तव्य पर मनन करते आए थे और धीरे धीरे अपने साथियों की सेवा के आदर्श के मुताबिक अपनी जीवन शैली को ढाल चुके थे। अब इंसान की बदहाली के इन दुखद और विविधापूर्ण अनुभवों के बीच, पहले जो कुछ अंदर ही अंदर धीरे धीरे पक रहा था वह अनिर्णय का खोल फाड़कर बाहर आ गया और एक दृढ़ संकल्प बन गया।

पहले जो एहसास बहुत धुंधला था वह अब एक चकाचौंध के साथ स्पष्ट हो गया कि 'मैं शरीर और आत्मा, दोनों का ध्यान नहीं रख सकता था।' अगर उनका जीवन संगी मनुष्यों की सेवा के लिए समर्पित है और अगर आध्यात्मिक बोध उनके प्रयासों का लक्ष्य है तो उन्हें शरीर-सुख को हमेशा के लिए त्याग देना होगा और कठोरता के साथ संयम का पालन करना होगा जिसे हिंदू धर्मग्रंथों ने ब्रह्मचर्य का नाम दिया है। 'ऐसा सोचते हुए मैं आखिरी संकल्प लेने के लिए थोड़ा-बहुत बेचैन हो उठा। इस संकल्प की संभावना ने मुझे एक प्रकार का आनंद दिया।'

जैसे ही 'विद्रोह' कुचल दिया गया और कार्प्स को भंग कर दिया गया, गांधी जी देर लगाए बिना फोनिक्स बस्ती की ओर चल पड़े जहां रहने के लिए पहले

वे अपनी पत्नी और बच्चों को भेज आए थे। जो मुसीबतें उन्होंने उठाई थीं उनके बारे में उन्होंने कस्तूरबाई और अपने प्रमुख सहयोगियों को जानकारी दी और उनको अपना फैसला सुनाया जो उन्होंने किया था। इस प्रकार उनको विश्वास में लेने और अपनी समझ में उनकी सहर्ष अनुमति प्राप्त करने के बाद उन्होंने 'आखिरी फैसला' किया जिसे उन्होंने 'जीवन भर ब्रह्मचर्य के पालन का व्रत' कहा है।

चुनौती

लगता था गोया उन्होंने युद्ध का आह्वान सुना हो और फिर फ़ौजी की वर्दी पहन ली हो। युद्ध सचमुच आरंभ होनेवाला था। चुनौती दी जा चुकी थी। जुलू विद्रोह के दबाए जाने की देर थी कि ट्रांसवाल का बोअर-ब्रिटिश शासक गिरोह भारतीयों पर अपनी कुदृष्टि डालने लगा। कालों और रंगदारों को उनकी औकात में रखा जाए और उनको किसी भी प्रकार सत्ता और व्यापार पर गोरों की इजारेदारी में रुकावट न बनने दिया जाए।

अगस्त 1906 में एक अध्यादेश जारी किया गया। इसके तहत ट्रांसवाल में भारतीयों का प्रवेश प्रतिबंधित कर दिया गया। हर भारतीय पुरुष, स्त्री और (8 साल या अधिक आयु के) बच्चे के लिए नाम दर्ज कराना तथा अंगूठे और उंगलियों के निशान देना जरूरी हो गया। पंजीकरण पत्र न रखने पर जुर्माना, जेल या निष्कासन की सजा दी जा सकती थी। पुलिस को अधिकार दे दिया गया कि वह पंजीकरण पत्र देखने के लिए किसी के भी घर में प्रवेश कर सके या सड़क पर किसी भी व्यक्ति को रोक ले।

गांधी जी से हताश होकर जोहान्सबर्ग लौटने की प्रार्थना की गई। उन्होंने अपने देशवासियों को सलाह दी कि अगर भारतीय समुदाय को अपमान सहते हुए नष्ट नहीं होना है तो वे उस अध्यादेश का विरोध करें जिसे उन्होंने काला अध्यादेश कहा था। एक जनसभा आयोजित की गई जिसमें भारतीयों ने इस 'कुत्ते के पट्टे' को कभी कुबूल न करने का संकल्प व्यक्त किया। गांधी जी ने श्रोताओं से कहा : 'मेरे लिए सिर्फ एक रास्ता बचा है, यानी मरना लेकिन कभी भी इस कानून को स्वीकार न करना, भले ही सब पीछे ठहर जाएं और मुझे अकेला छोड़ दें।'

प्रतिरोध कौन-सा रूप लेगा, यह अभी किसी को स्पष्ट नहीं था। गांधी जी को भी नहीं जिनकी ओर सभी मार्गदर्शन के लिए देख रहे थे। लेकिन पहला कदम साफ था और यह कदम ऐसा था जिसे गांधी जी अपने सारे भावी संघर्षों में उठाने से नहीं चूके, यानी विरोधी से मिलने, बातचीत करने और उसे बुद्धिसंगत व्यवहार करने का हर अवसर देने का कदम। इसलिए उन्होंने ट्रांसवाल के अधिकारियों से भेंट की और उनको समझाया-बुझाया। लेकिन उनको सफलता नहीं मिली, सिवाय

इसके कि स्त्रियों से संबंधित धारा हटा दी गई। बाकी के बारे में अधिकारीगण अड़े रहे।

ट्रांसवाल अभी भी एक साम्राज्यगत उपनिवेश था और काला अध्यादेश ब्रिटिश सम्राट के हस्ताक्षर के बिना कानून नहीं बन सकता था। इसलिए गांधी जी अक्तूबर के आरंभ में एक और प्रतिनिधि को लेकर लंदन के लिए चल पड़े कि ब्रिटिश सरकार को उस कदम के असाम्राजी चरित्र का विश्वास दिलाएंगे जो महामहिम की ब्रिटिश भारतीय प्रजा के खिलाफ भेदभाव करता था। इस समय गांधी जी संजीदगी से विश्वास करते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य मानवता के कल्याण के लिए एक देव-प्रदत्त संस्था है। आगे भी कई वर्षों तक उनका यही विश्वास रहा।

1897 में जब भारत से डरबन लौटने पर गोरों ने उनको मारा-पीटा था तब कुछ ही समय बाद उन्होंने साम्राज्ञी विक्टोरिया की हीरक जयंती पर अपने समुदाय की ओर से एक पत्र भेजा था। इसमें उन्होंने कहा था 'हमें यह सोचकर गर्व होता है कि हम आपकी प्रजा हैं।' 1901 में साम्राज्ञी की मृत्यु के बाद 'धरती के महानतम और प्रियतम शासक की मृत्यु से साम्राज्य को हुई क्षति पर कुछ व्यक्त करते हुए उन्होंने शाही परिवार को एक तार भेजा था। बोअर युद्ध में अंग्रेजों की जीत के बाद डरबन की एक जनसभा में उन्होंने ब्रिटिश जनरलों को बधाई देने का एक प्रस्ताव रखा था। इसमें कहा गया था : 'भारतीयों के लिए यह दावा सबसे अधिक गर्व का कारण था कि वे ब्रिटिश प्रजा हैं।'

लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य की यह निष्ठावान प्रजा जो उस साम्राज्य पर गर्व करती थी, इंग्लैंड में विनम्रतापूर्ण जबानी हमदर्दी की कुछेक अभिव्यक्तियों के अलावा कुछ खास नहीं पा सकी। ग्रेट-ब्रिटेन की लिबरल सरकार ने विधेयक पर सम्राट का हस्ताक्षर रोके रखने का खोखला प्रदर्शन किया जबकि उसे अच्छी तरह पता था कि ट्रांसवाल कुछ ही दिनों में एक स्वशासी उपनिवेश बन जाएगा और फिर उसकी अपनी विधायिका उसी विधेयक को पारित कर लेगी। हुआ भी ऐसा ही। ट्रांसवाल की नयी संसद के पहले कार्यों में एक यह भी था कि उसने काले विधेयक को एक ही बैठक में पारित कर दिया और वह मई 1907 में सम्राट के हस्ताक्षर से कानून बन गया।

गांधी जी ने नए कानून के उल्लंघन के प्रति समर्पित एक शांतिपूर्ण प्रतिरोध समिति का गठन करके इस चुनौती का मुकाबला किया। धरने देनेवाले भरती और प्रशिक्षित किए गए और वे घर घर जाकर 'कुत्ते के पट्टे' का अर्थ समझाने लगे। सरकार द्वारा खोले गए पंजीकरण केंद्रों पर उन्होंने शांतिपूर्ण धरने दिए। शहर भर में पोस्टर लगा दिए गए : 'सम्राट के प्रति निष्ठा सम्राटों के सम्राट के प्रति निष्ठा की मांग करती है ! भारतीयों, आजाद हो जाओ !' नतीजा यह कि मुश्किल से पांच

प्रतिशत हिंदुस्तानियों ने पंजीकरण कराया हालांकि अधिकारी आखिरी तारीख को बार बार बढ़ाते रहे।

जुर्मानों, व्यापार के लाइसेंसों की जब्ती, जेल और यहां तक कि देशनिकाले का सहारा लिया गया, मगर हिंदुस्तानी अभी भी पंजीकरण कराने से इनकार करते रहे। झुंझलाकर और विवेक खोकर जनरल स्मट्स ने गांधी जी और उनके कुछ प्रमुख सहयोगियों की गिरफ्तारी का आदेश दिया। 10 जनवरी 1908 को गांधी जी पर उसी अदालत में मुकदमा चलाया गया जहां उन्हें सभी एक बैरिस्टर और अटार्नी के रूप में जानते थे। उन्होंने जुर्म कुबूल किया और मुकदमा सुननेवाले मजिस्ट्रेट से कानून के तहत सख्त से सख्त सजा देने की मांग की। उन्हें दो माह सादी जेल की सजा दी गई और जोहान्सबर्ग जेल में रखा गया।

गांधी जी ने अपने अभियान को शांतिपूर्ण प्रतिरोध का नाम दिया था। बाद में उनका परिचय सविनय अवज्ञा के बारे में थोरो के प्रसिद्ध लेख से हुआ जिससे वे गहरे प्रभावित हुए और जिसके कुछ अंशों को उन्होंने गुजराती में अनूदित और **इंडियन ओपीनियन** में प्रकाशित किया था। उसके बाद वे अपने आंदोलन को सविनय अवज्ञा कहने लगे। लेकिन शांतिपूर्ण प्रतिरोध या सविनय अवज्ञा, कोई भी शब्द उन्हें संतुष्ट नहीं कर सका। इसलिए उन्होंने सविनय प्रतिरोध शब्द को अपनाया।

लेकिन वे अभी भी संतुष्ट नहीं थे। उन्हें लगता था कि उनके मन में जिस संघर्ष की कल्पना है उसे इनमें से कोई भी शब्द पूरी तरह व्यक्त नहीं करता। उनकी कल्पना का प्रतिरोध प्रेम और सत्य की एक सकारात्मक धारणा पर आधारित था। वे भारतीय मूल के किसी शब्द को वरीयता देने के पक्ष में थे। इसलिए जब किसी ने सदाग्रह (सद् + आग्रह) शब्द सुझाया तो उन्होंने इसे लपक लिया और इसे बदलकर सत्याग्रह (सत्य + आग्रह) का नाम दे दिया। उनका विचार था कि यह शब्द उनकी धारणा के पीछे मौजूद नैतिक प्रेरणा को अधिक भरपूर ढंग से व्यक्त करता था।

आस्था की परीक्षा

गांधी जी की गिरफ्तारी और जेल ने दूसरों में साहस का संचार किया और अनेक लोगों ने फिर ऐसा ही किया। मुट्ठी भर 'कुली' जिन्हें अभी तक कायर और गिड़गिड़ानेवाला कहकर अपमानित किया जाता था, बहादुरी से सत्ता का उल्लंघन कर रहे थे। इस तथ्य ने कुछ कम प्रशंसा और सहानुभूति नहीं जगाई। भारत और इंग्लैंड, दोनों जगह सार्वजनिक विरोध हुए। स्थिति जनरल स्मट्स के लिए परेशानी का कारण बनती जा रही थी और उसने तीन हफ्ते से भी कम समय में जेल में गांधी जी के पास एक दूत भेजा। उसने एक अंग्रेज पत्रकार अलबर्ट कार्टराइट को अपना दूत बनाया जो गांधी का मित्र था और भारतीयों के ध्येय से हमदर्दी रखता था।

कार्टराइट एक मसविदा लेकर पहुंचे। इसमें स्मट्स ने प्रस्ताव रखा था कि अगर हिंदुस्तानी स्वेच्छा से पंजीकरण कराएं तो जिस पंजीकरण कानून को वे अपमानजनक मानकर विरोध करते थे, उसे समाप्त कर दिया जाएगा। पहले एक जनसभा में हिंदुस्तानी ऐलान कर चुके थे कि वे अनधिकृत आव्रजन पर अंकुश रखने में अधिकारियों को सहायता देने के लिए स्वैच्छिक पंजीकरण पर अपत्ति नहीं करेंगे। इसलिए कार्टराइट द्वारा लाया गया मसविदा गांधी जी को माकूल लगा और उन्होंने उसमें कुछ मामूली संशोधन मात्र सुझाए। जब गांधी जी मुजरिम के कपड़ों में ही जनरल स्मट्स से मिलने प्रिटोरिया ले जाए गए तो उसने स्वयं इस समझौते की पुष्टि की। यह 30 जनवरी का दिन था जो गांधी जी के जीवन का एक भयानक दिन है।

यह दो जबान के पक्के व्यक्तियों के बीच की मौखिक सहमति थी। गांधी जी अनेक बार निराश होने के बावजूद जीवन भर अपने विपक्षी का भरोसा करते रहे और उन्होंने स्मट्स की बातों का भी भरोसा किया। उसी शाम उन्होंने जोहान्सबर्ग लौटकर रात में भारतीयों की एक सभा बुलाई और जो कुछ हुआ था, उसके बारे में बतलाया। उन्होंने कहा—'हमें यह दिखाने के लिए स्वैच्छिक पंजीकरण कराना चाहिए कि हम चुपके चुपके या धोखे से ट्रांसवाल में एक भी भारतीय को लाने का इरादा नहीं रखते।'

उनके श्रोताओं में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत के अनेक पठान भी थे। ये हट्टे-कट्टे, गंवार लोग अपनी खरी ईमानदारी और आसानी से भड़क उठनेवाली सम्मान-भावना के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके लिए 'स्वैच्छिक' और 'अनिवार्य' का अंतर कोई खास मतलब नहीं रखता था। अहमियत थी तो सिर्फ इसकी कि पिछली सभाओं में उनको कसम दिलाई गई थी कि वे उंगलियों की छाप देने का अपमान स्वीकार नहीं करेंगे। उनमें से एक ने गांधी जी पर दोटूक इलजाम भी लगाया कि स्मट्स ने उन्हें रिश्वत दी है कि वे अपने देशवासियों को धोखा दें। उसने सफाई से घोषणा की : 'मैं अल्लाह को हाजिर-नाजिर मानकर हलफ लेता हूं कि जो भी शख्स नाम दर्ज कराने की दरख्वास्त पहले देगा उसे मैं जान से मार डालूंगा।'

लेकिन गांधी जी मौत की धमकियों से डरनेवाले नहीं थे। उस क्षण की प्रतिक्रियास्वरूप जो जवाब उनके होंठों पर आया वह इस कदर उनका लाक्षणिक गुण था कि उसे उन्होंने 40 साल बाद और बीच में भी कई मौकों पर दोहराया। यह एक दर्द भरा विश्वास था जो भविष्यवाणी साबित हुई। गांधी जी ने कहा : 'बीमारी से या किसी और ढंग से मरने की बजाय एक भाई के हाथों मरना मेरे लिए दुख का कारण नहीं हो सकता, और भले ही इस हालत में भी मैं अपने हमलावर के खिलाफ क्रोध या घृणा के विचारों से मुक्त रहूं, मुझे पता है कि वही मेरे शाश्वत कल्याण का कारण बनेगा और मेरा हमलावर भी आगे चलकर मेरी पूरी बेगुनाही का एहसास करेगा।'

लेकिन पठान इस कदर स्पष्ट बौद्ध-ईसाई भावना से प्रभावित नहीं हुए। कुछ दिन बाद जब गांधी जी स्वैच्छिक पंजीकरण करानेवाला प्रथम व्यक्ति बनने जा रहे थे जिसका उन्होंने वादा किया था, तो उनके सामने उनका एक भूतपूर्व पठान मुवक्किल आ गया जिसका नाम मीर आलम था। फिर तो वह और उसके साथी गांधी जी पर टूट पड़े और उनको बुरी तरह घायल कर दिया। अगर कुछ यूरोपीय राहगीर उनको बचाने के लिए नहीं दौड़ पड़े होते तो इसका घातक परिणाम निकल सकता था। गांधी जी फुटपाथ पर खून में लथपथ और बेहोश पड़े थे। उन्हें पास के एक दफ्तर में ले जाया गया जहां उनको फौरन प्रारंभिक सहायता दी गई। सौभाग्य से उनके मित्र और बाप्तिस्त मिशनरी जोसेफे डोक वहां आ पहुंचे और उनको अपने घर ले गए। गांधी जी वहां समुचित चीरफाड़ के बाद कई दिनों तक स्वास्थ्यलाभ करते रहे।

होश में आने के फौरन बाद गांधी जी ने अपने हमलावर की पैरवी की कि वह दोषी नहीं है और उसे दंड न दिया जाए। जैसे ही उनके गालों और ऊपरी होंठों के घाव सिल दिए गए और चेहरे और माथे की मरहम-पट्टी कर दी गई, उन्होंने जोर देकर कहा कि रजिस्ट्रार को बुलवाया जाए और वह उनकी उंगलियों की छाप ले, बावजूद इसके कि डाक्टर ने उनको पूरा आराम करने और न बोलने की हिदायत

की थी। लेकिन गांधी जी अडिग रहे और यही कहते रहे कि उन्होंने पहला पंजीकरण पत्र प्राप्त करने का संकल्प किया था और यह काम उन्हें किसी भी कीमत पर करना होगा। और फिर ऐसा ही हुआ जिससे उनको तसल्ली हुई और शेष हर किसी को दुख हुआ। इनमें गोरा रजिस्ट्रार भी शामिल था और जब वह उनकी उंगलियों की छाप ले रहा था, उसकी आंखें नम थीं।

डोक सबसे पहले गांधी जी से कुछ माह पहले, 1907 में मिले थे जब उन्होंने भारतीयों के निष्क्रिय प्रतिरोध आंदोलन की खबर पढ़कर उनके नेता से साक्षात्कार लेना चाहा था। उन्होंने 'एक लंबे-चौड़े और राजसी व्यक्तित्व से और जोहान्सबर्ग में अपने प्रभाव के अनुरूप एक साहसपूर्ण और गर्वोन्मत्त मुखड़े से' मुलाकात होने की आशा की थी। 'इसकी बजाय मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि मेरे सामने एक छोटा-सा, कोमल और दुर्बल व्यक्ति खड़ा था और एक परिष्कृत, गंभीर मुखड़ा मेरे मुखड़े को देख रहा था। त्वचा का रंग काला था, आंखें काली थीं, लेकिन चेहरे को आलोकित करनेवाली मुस्कान और वह सधी हुई, बेखौफ निगाह बस एक झटके में व्यक्ति का दिल जीत लेती थी।'

उसके बाद डोक उनके भारी प्रशंसक और मित्र रहे और उन्हें गांधी जी के पहले जीवनी-लेखक होने का श्रेय मिला। उनकी 1909 में छोटी-सी जीवनी आज भी (उस समय तक) गांधी जी के व्यक्तित्व और जीवन के सर्वोत्तम विवरणग्रंथों में एक है। उसने गांधी जी के जीवन और लालन पालन तथा दक्षिण अफ्रीका में उनके द्वारा किए जा रहे कार्यों को बेहतर समझ पाने में तालस्ताय की भी सहायता की। मृत्यु से कुछ ही पहले सितंबर 1910 में वृद्ध तालस्ताय ने गांधी जी को लिखा था : 'इसलिए दुनिया के इस छोर पर मौजूद हम लोगों को ट्रांसवाल में आपकी गतिविधियां दुनिया में आज किया जा रहा सबसे मूलभूत, सबसे महत्वपूर्ण काम लगती हैं जिसमें ईसाई राष्ट्र ही नहीं बल्कि पूरी दुनिया के राष्ट्र अपरिहार्य रूप से भाग लेंगे।'

वर्षों बाद डोक की पुत्री ने इस अद्भुत भारतीय मेहमान के प्रति अपने विविधतापूर्ण भावों का स्मरण किया था। उन्होंने लिखा है कि उस मेहमान का चेहरा पट्टियों में लिपटा था और वह उनको, जो तब एक छोटी-सी बालिका थीं, **लीड काइंडली लाइट** गाकर सुनाने के लिए कहता रहता था। उन्होंने यह भी लिखा है कि किस प्रकार एक दिन उनका भाई बाग से ताजी और साफ मिट्टी खोदकर लाने के लिए हाथ में कुदाल लेकर गया था क्योंकि गांधी जी डाक्टर के इलाज से तंग आ चुके थे और जोर दे रहे थे कि उनकी पट्टियां खोल दी जाएं और उसकी जगह कीचड़ की पुलटिस लगाई जाए। भाई आगे कहता है : 'जो कुछ किया गया था उसे देखकर डाक्टर का त्रस्त होना हमें अच्छी तरह याद है। उसने धमकी दी कि इस मरीज की जिम्मेदारी से अपने हाथ खींच लेगा—लेकिन दो ही दिनों में

श्रीगांधी बरामदे में आरामकुर्सी में बैठे फल खा रहे थे। वह कुर्सी आज भी हमारे घर में है और हम उसे हमेशा महात्मा गांधी की कुर्सी कहते हैं।'

कुछ ही दिनों में गांधी जी इतने चंगे हो गए कि पोलक के एक उपनगर में स्थित घर में चले गए। उन्होंने यहीं श्रीमती पोलक की देखभाल में स्वास्थ्यलाभ का कार्यक्रम पूरा किया। (इससे पहले श्रीमती गांधी और उनके बच्चों को फोनिक्स भेज दिया गया था।) श्रीमती पोलक के अनुसार स्वास्थ्यलाभ के इसी काल में गांधी जी ने 'वह शक्ति विकसित की जिसे उन्होंने आगे भी बचाए रखा कि वे जहां काम करते थे वहीं बैठे बैठे सो जाते थे और कुछ क्षण बाद तरोताजा होकर और चिंतन की धारा में कोई बाधा डाले बिना जाग उठते थे। मैं कमरे में बैठी हूं और वे अपने सचिव को कुछ बोलकर लिखा रहे हैं कि उसे इसी काम के लिए दफ्तर से बुलाया गया है, और एकाएक आवाज रुक जाती है और आंखें बंद हो जाती हैं। सचिव और मैं खामोश बैठे हैं, और फिर उतने ही अचानक ढंग से श्रीगांधी की आंखें फिर खुलती हैं और आवाज उसी जगह से लिखवाना जारी करती है जहां पर वह रुकी थी। उन्हें याद नहीं कभी उन्होंने पूछा हो, 'मैं कहां था ? या मैं क्या कह रहा था ?'

अग्निपरीक्षा

जैसे ही गांधी जी कुछ ठीक हुए, फिर से अपनी सार्वजनिक गतिविधियों में कूद पड़े—कभी डरबन तो कभी जोहान्सबर्ग में, अपने देशवासियों का आह्वान करते हुए कि वे स्वैच्छिक पंजीकरण के वादे को पूरा करें। लेकिन एक कड़वी निराशा उनका इंतजार कर रही थी। काले कानून को खत्म करने का वादा पूरा करने की बजाय स्मट्स स्वैच्छिक पंजीकरणों को वैध बनाने के लिए एक और विधेयक ले आया। जब उसे उसके वादे की याद दिलाई गई तो वह मुकर गया कि उसने ऐसा कोई वादा किया था।

गांधी जी के लिए वचन का मूल्य जीवन से भी अधिक था। उन्हें गहरा धक्का लगा और दुख पहुंचा कि स्मट्स जैसे बहादुर सिपाही ने इस तरह अपने को पतित किया था। लेकिन अपने विरोधी की निंदा करने की बजाय—और यह काम उन्होंने कभी नहीं किया—उन्होंने अपने देशवासियों की एक आम सभा बुलाई। वहां उन्होंने सार्वजनिक रूप से एक अग्निकुंड जलाया और अपना पंजीकरण पत्र आग के हवाले कर दिया जिसे उन्होंने अपने जीवन के लिए कुछ कम खतरा उठाकर हासिल नहीं किया था। उनका अनुसरण करते हुए दूसरे सैकड़ों पंजीकरण पत्र अग्निकुंड के हवाले कर दिए गए।

उन पर हमला करनेवाला पठान मीर आलम भी इस हमले के लिए जेल की सजा काट चुकने के बाद उस सभा में आया था; उसे बरी करने के लिए गांधी जी की अपील का कोई फायदा नहीं हुआ था। अब उसने समझा कि उसके शिकार के बारे में उसकी राय गलत थी। पठान जितने उतावले होते हैं उतने ही उदारहृदय भी होते हैं। मीर आलम फौरन गांधी जी के पास पहुंचा और क्षमायाचना के रूप में जोश के साथ उनका हाथ दबाने लगा।

घृणित 'कुत्ते के पट्टे' की सार्वजनिक होली जलाने के इस नाटकीय कृत्य ने खुद गांधी जी पर स्थायी प्रभाव छोड़ा होगा। कारण कि एक दशक से भी अधिक समय बाद उन्होंने भारत में ब्रिटिश सरकार के खिलाफ जब पहला जन सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाया तो विदेशी कपड़ों की होली जलाना उनके अभियान के प्रमुख प्रतीकों में एक था। यही बात हड़ताल अर्थात सारे सार्वजनिक कारोबार और

गतिविधियों के स्वैच्छिक स्थगन के साथ' थी। इसे भी गांधी जी के यहां पहली बार उन हिंदुस्तानियों के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए संगठित किया था जो लाइसेंस के बिना वस्तुए बेचने के कारण जेल में डाल दिए गए थे। वास्तविकता यह है कि अहिंसक जन सविनय अवज्ञा की लगभग हर रणनीति को, जिसे उन्होंने आगे चलकर पूर्णता तक पहुंचाया और भारत में कहीं बहुत बड़े पैमाने पर लागू किया, उन्होंने दक्षिण अफ्रीका की प्रयोगशाला में ही विकसित किया, आजमाया और लागू किया था।

सरकार ने गिरफ्तारियों, जुर्मानों, सामानों की जब्ती और देशनिकालों के रूप में जवाबी कार्रवाई की, लेकिन अधिकतर छोटे लोग ही पकड़े गए। गिरफ्तार न किए जाने पर दुखी होकर गांधी जी ने स्मट्स को लिखा : 'क्या यह साहस का काम है कि मुझे छोड़ दिया गया है और गरीब हिंदुस्तानियों को परेशान किया जा रहा है ?' आखिरकार अधिकारियों ने जलभुनकर उनको सितंबर के आखिर में गिरफ्तार कर लिया और उन्हें दो माह के कठोर कारावास की सजा दी गई। इस तरह उनके शब्दों में उन्हें एक बार फिर महामहिम के होटल में ठहराया गया। अब वे 'ट्रांसवाल के सबसे सुखी मनुष्य' थे।

इस बार अधिकारियों ने उनको पाशविक और अपमानजनक दशाओं में रखा, जैसे गुलाम कोड़ों के नीचे रहते हैं, और इस प्रकार उनका और उनके साथियों का मनोबल तोड़ने की कोशिशें कीं। जब वे 1932 में यरवदा जेल में थे तब उन्होंने उन अनुभवों को याद करते और यरवदा की अपेक्षाकृत अच्छी दशाओं की तुलना करते हुए अपने मित्र और सचिव महादेव देसाई से कहा था : 'अस्ल कैद तो हमने दक्षिण अफ्रीका में काटी। हमें गलियां दी जाती थीं और पीटा जाता था, जेल के अधिकारियों द्वारा नहीं बल्कि जुलू कैदियों द्वारा जिनके साथ हमें रखा गया था। शौचालय सुविधाएं निकृष्टतम प्रकार की थीं और उनमें कोई गोपनीयता नहीं थी। एक दिन मैं शौच के लिए बैठा था कि एक जुलू कैदी आया और उसने थप्पड़ मारकर मुझे गिरा दिया। मैं गिरा और एक दीवार से जा टकराया। सिर्फ सौभाग्य था कि मेरा सिर नहीं फूटा, वरना बुरी तरह मेरा खून बहा होता...मेरी कोठरी मुश्किल से तीन या चार फीट चौड़ी और छह फीट लंबी थी; उसमें कोई रोशनी न थी और न ही हवा के लिए छत के पास कोई खिड़की थी। ऐसी कोठरियों को तनहाई की कोठरियां कहा जाता था। मैं बदतरीन किस्म के मुजरिमों से घिरा हुआ था। उनमें से एक तो तीस बार सजा काट चुका था...'

इस दौरान जब भी अदालत में गवाही के लिए उनकी मौजूदगी जरूरी होती, वे हथकड़ियां पहनाकर और कैदियों के लिबास में लाए जाते थे।

लेकिन मुसीबतों से गांधी जी की आत्मा कमजोर होने की बजाय फौलाद जैसी हुई और रिहा होने के बाद उन्होंने फरवरी 1909 में तीसरी बार कठोर

कारावास की सजा पाने तक अपने अभियान को जारी रखा। इन दो गिरफ्तारियों के बीच का छोटा-सा अरसा उन्होंने फोनिक्स में अपनी पत्नी की तीमारदारी करते हुए गुजारा जो खून की भयानक कमी के कारण घातक रूप से बीमार थीं। होशियार तीमारदारी, भोजन पर कड़े नियंत्रण और जलीय चिकित्सा के द्वारा वे अपनी पत्नी का सामान्य स्वास्थ्य वापस लाने में कामयाब रहे। डाक्टर लोग लगभग पूरी तरह उम्मीद छोड़ चुके थे, वे यह सब देखकर दंग रह गए और उनकी प्रशंसा करने लगे।

नवंबर 1908 में वे अभी फोक्सरुस्ट गाउल में थे कि उन्हें अपनी पत्नी की गंभीर बीमारी की खबर मिली। वे जुर्माना भरकर रिहाई हासिल कर सकते थे लेकिन वह एक सत्याग्रही के स्वेच्छा से स्वीकार किए गए नियम के खिलाफ होता। इसलिए उन्होंने इस प्रलोभन का मुकाबला किया। उनको 'प्यारी कस्तूर' के संबोधन से (गुजरती में) लिखे गए एक मर्मस्पर्शी पत्र में वे लिखते हैं : 'आज मुझे तुम्हारी बीमारी के बारे में श्रीवेस्ट का तार मिला। मेरा दिल टुकड़े टुकड़े हुआ जाता है। मैं बहुत दुखी हूं, लेकिन मैं इस हालत में नहीं कि वहां आकर तुम्हारी सेवा-सुश्रुषा कर सकूं। मैंने अपना सब कुछ सत्याग्रह संघर्ष को समर्पित कर दिया है। मेरे वहां आने का सवाल ही नहीं उठता। मैं तभी आ सकता हूं जब मैं जुर्माना भर दूं, जो मुझे नहीं भरना चाहिए। अगर तुम हिम्मत रखो और जरूरी भोजन लो तो तुम ठीक हो सकोगी। लेकिन अगर मेरे दुर्भाग्य से तुम चल बसीं तो मैं सिर्फ यह कहूंगा कि मेरे जीते जी तुम मुझसे अलग होकर कुछ भी गलत नहीं करोगी। मैं तुम्हें इतना प्यार करता हूं कि अगर तुम जीवित न रहीं तो भी तुम मेरे लिए जीवित रहोगी। तुम्हारी आत्मा अमर है। मैंने जो कुछ तुमसे बार बार कहा है वह फिर दोहराता हूं और तुम्हें भरोसा दिलाता हूं कि अगर तुम अपनी बीमारी का शिकार हो गईं तो मैं दूसरा विवाह नहीं करूंगा। अनेक बार मैंने तुमसे कहा है कि ईश्वर में आस्था रखकर तुम अंतिम सांसें शांति के साथ ले सकती हो। अगर तुम मर गईं तो तुम्हारी मौत भी सत्याग्रह के ध्येय के लिए बलिदान होगी। मेरा संघर्ष केवल राजनीतिक नहीं है। यह धार्मिक भी है और इसलिए पूरी तरह शुद्ध है।'

उद्देश्य को लेकर लंदन में

जब गांधी जी मई के अंत में जेल से बाहर आए तो तय किया गया कि एक और भारतीय प्रतिनिधि को साथ लेकर जाएं जहां ब्रिटिश सरकार दक्षिण अफ्रीकी उपनिवेशों के भावी संघ पर विचार कर रही थी। आशा थी कि जनरल बोथा और जनरल स्मट्स, दोनों ही वहां वार्ताओं के लिए आएंगे। गांधी जी अभी भी अंग्रेजों की न्यायभावना का भरोसा करते थे और उन्हें विश्वास था कि साम्राज्ञी सरकार को दक्षिण अफ्रीका में महामहिम की भारतीय प्रजा के साथ न्याय की जमानत देने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। लेकिन राजनीतिक साधुता और दूरदृष्टि के लिए सुख्यात होने के बावजूद अंग्रेज इतने नीच निकले कि उन्होंने साम्राज्य के इस सच्चे मित्र और समर्थक को पक्का शत्रु बना लिया जिसने साम्राज्य को सुधारने में असफल रहकर उसे समाप्त ही कर दिया।

गांधी जी लंदन में कोई चार माह रुके। यहां वे हमेशा की तरह बिना हार माने, रात-दिन काम करते रहे तथा भारतीयों को न्याय दिलाने के लिए राजनीतिज्ञों और प्रेस से मिलते, उनको समझाने-बुझाने की कोशिश करते रहे। लेकिन नतीजा कुछ नहीं निकला। कुछ व्यक्ति हमदर्द और दोस्त जरूर रहे लेकिन सरकार कुल मिलाकर अपने अनिश्चय पर विनम्रता के साथ टिकी रही। वह हमेशा की तरह एक सद्गुण को दूसरे के खिलाफ उठाती रही, औचित्य के नाम पर न्याय से मुकरती रही और लोकतंत्र के नाम पर समानता का निषेध करती रही। साम्राज्ञी सरकार स्वशासी डोमिनियनों के मुआमले में भला कैसे हस्तक्षेप कर सकती है ? अंग्रेज अपने पहले के बोअर शत्रुओं से सुलह कर चुके थे। गोरे एक बार फिर अपनी 'सभ्यता' की रक्षा के लिए एकजुट हो चुके थे। साम्राज्य के अछूतों की फिक्र कौन करता ? यह सबक अनजाने में मगर निरंतर गांधी जी के मन में बैठता जा रहा था।

इस प्रकार यह राजनीतिक ध्येय प्राप्त न हो सका। फिर भी लंदन के इस शांतिपूर्ण अंतराल के दौरान गांधी जी को बहुत कुछ बौद्धिक और नैतिक उत्साह प्राप्त हुआ। उनके मन में जो खमीर उठ रहा था वह और पकता जा रहा था। उन्होंने सहानुभूति और प्रशंसा के भाव से मताधिकार के लिए लड़ रही ब्रिटिश

नारियों के बहादुराना संघर्ष को देखा। इस दृश्य में दुख का तत्व भी था कि हिंसा पर उतारु होकर स्त्रियां 'पुरुषों के कुकर्मों की नकल' कर रही थीं। बोअर युद्ध के दौरान उन्होंने ब्रिटिश यातना-शिविरों में हंसकर कष्ट उठा रही बहादुर स्त्रियों की प्रशंसा की थी; अब वे पुरुषों के साथ समानता के अधिकार की निर्भीक पुष्टि के लिए उनकी ब्रिटिश बहनों के प्रतिरोध के प्रशंसक बन गए।

वे यह कहते कभी नहीं थकते थे कि उन्होंने शांतिपूर्ण प्रतिरोध का रहस्य स्त्रियों से ही सीखा था। उन्होंने श्रीमती पोलक से कहा था : 'मैं देख रहा हूं कि स्त्रियां दुनिया के मुआमलों में अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने जा रही हैं। वे किसी भी आंदोलन की एक भारी पूंजी होंगी...मैंने शक्ति के अस्त्र के रूप में शांतिपूर्ण प्रतिरोध करना किसी और की अपेक्षा भारतीय स्त्रियों से अधिक सीखा है। बा (श्रीमती गांधी) तक ने मुझे सिखाया है कि अगर वे किसी काम को पूरी तरह और दृढ़ता से करने से इनकार कर दें तो मैं उन्हें वह काम करने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। वे सिर्फ मेरा शांतिपूर्ण प्रतिरोध करती हैं और मैं असहाय हो जाता हूं।'

इसी समय श्रीमती पोलक भी लंदन में थीं, और ब्रिटिश सत्ता के केंद्र में गांधी जी की जीवन शैली पर कुछ रोचक प्रकाश डालने के लिए हम निजी बातों के प्रति उनकी नारी-दृष्टि के आभारी हैं। वे महात्मा-पद की चाहे जिस ऊंचाई पर भी पहुंच चुके हों, उन्होंने कभी अपनी मानवीयता और सहृदयता का त्याग नहीं किया। लेकिन उस समय ब्रह्मचर्य-व्रत और फोनिक्स बस्ती के बावजूद अभी भी जीवन की कुछ अच्छी बातों से लगाव रखते थे। वे अभी भी अच्छी चाय पीकर आनंद का अनुभव करते थे, और विक्टोरिया स्ट्रीट के वेस्टमिंस्टर पैलेस होटल (जो अब नहीं है) में उनके कमरे में यह पेय मक्खन लगे टोस्टों और ढेर सारे फलों के साथ बड़ी संख्या में आनेवाले मुलाकातियों को पेश किया जाता था। वे अभी भी अंग्रेज जेंटलमैन की तरह के कपड़े पहनना पसंद करते थे। श्रीमती पोलक ने गांधी जी से पहली मुलाकात के समय से लेकर अपनी साबरमती आश्रम की यात्रा के समय तक उनके वस्त्रों में आए जिन परिवर्तनों का जीवंत संस्मरण प्रस्तुत किया है, वह यहां उद्धृत करने योग्य है।

'श्रीगांधी जो वस्त्र पहनते थे वे उनके मानसिक जीवन के कितने भिन्न भिन्न चरणों की गवाही देते हैं। मेरा विचार है कि हर परिधान एक मानसिक दृष्टि का परिचय देता था। फिर भी वे कितनी अजीब उदासीनता से उन्हें पहनते थे ! हरेक उनकी एक क्षणजीवी अभिव्यक्ति मात्र लगता था, और अक्सर उसके पीछे व्यक्ति एक ऐसे मानव के होने का अनुभव करता था जो इसलिए रूप धारण करता था कि गोया वह उसे फौरन और आसानी से त्याग देगा और वस्त्रहीन होकर अपने ईश्वर के सामने पहुंच जाएगा।

'जब मैंने उन्हें पहली बार दक्षिण अफ्रीका में देखा था, वे एक काली पेशेवर पगड़ी पहने हुए थे। उनका ढीला-ढाला लाउंज सूट एक अच्छी किस्म के कपड़े का था जिसमें अपेक्षाकृत गाढ़ी जमीन पर हलकी नीली पट्टियां थीं और वह उन्हें कुछ कुछ प्यारा था। एक बड़ा कालर था और टाई थी, और बाहर जाते समय पहननेवाले जूते और मोजे थे। जब बाद में मैं उनसे लंदन में मिली तो वे युद्ध से पहले के काल के भद्र अंग्रेज के परंपरागत वस्त्र में अलग दिखाई देते थे—रेशमी हैट, अच्छी काट का सुबह का कोट, बढ़िया जूते और मोजे। फिर बरसों बाद मैंने शाम को पहनने की अनेक कमीजें बांटी थीं जिनको उन्होंने उस समय के अपने वस्त्र-संग्रह से निकाल दिया था।

'फिर दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने लाउंज सूट धारण किया लेकिन यह सिला-सिलाया था और अपेक्षाकृत ढीला-ढाला था; जूते अधिक भोंडे किस्म के थे और साधारण परिधान के रूप में कालर अब कलफ किए हुए नहीं होते थे। वहां अपने जीवन के बाद के वर्षों में इनकी जगह, जहां भी संभव हो, पूर्वी और पश्चिमी वस्त्रों का कोई मेल आ जाता—कमीज जैसे वस्त्र के साथ पाजामों का जोड़ा, और सैंडिल तो लगभग हमेशा ही होती।

'फिर आया अंतिम परिवर्तन—घर के बुने कपड़े की छोटी-सी धोती और जब भी वे जरूरी समझते, कंधों पर डालने के लिए एक शाल।'

यही समय था जब लेव तालस्ताय से गांधी जी का पहला पत्र व्यवहार हुआ। गांधी जी धर्म की सही भावना को निर्भीकता से प्रस्तुत करने के लिए तालस्ताय की लंबे समय से प्रशंसा करते आ रहे थे। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के बारे में उनकी समझौताविहीन निंदा ने आगे चलकर गांधी जी पर स्थायी प्रभाव डाला। इसके कुछ ही समय बाद तालस्ताय की मृत्यु हुई तो गांधी जी ने स्वयं लिखा था 'स्वर्गीय काउंट तालस्ताय के बारे में हम श्रद्धा के साथ ही कुछ लिख सकते हैं। हमारे लिए वे इस युग के महानतम व्यक्तियों में मात्र एक नहीं, कुछ और भी थे। जहां तक संभव हुआ है, हमने उनकी शिक्षाओं पर चलने का प्रयास किया है।'

लेकिन उनके मन पर सबसे अधिक चुनौती भरा प्रभाव लंदन में रहनेवाले युवा भारतीय क्रांतिकारियों के संपर्क और उनसे हुए वाद-विवाद का पड़ा था। उनमें से अनेक तो लगभग धार्मिक आस्था की तरह आतंकवाद में विश्वास रखते थे। लंदन में गांधी जी के पहुंचने से कुछ दिल पहले उनमें से एक क्रांतिकारी मदनलाल धींगरा ने सर कर्जन वाइली को गोली मार दी थी। वाइली एक ब्रिटिश अधिकारी था जो भारत में काम कर चुका था और उस समय ए डी सी (एड-डि-कैंप) की हैसियत से भारत सचिव लार्ड मार्ले के साथ जुड़ा था। सर कर्जन भारतीयों के किसी सामाजिक समारोह में आमंत्रित था जब उसकी हत्या की गई थी। सर कर्जन को बचाने का प्रयास करनेवाला एक भारतीय पारसी चिकित्सक डा. लालकाका भी मारा

गया था।

धींगरा को अपने काम का कोई पछतावा नहीं था। उन्होंने अदालत में गर्व के साथ अपने कार्य को शुद्धतम देशभक्ति और धर्म सम्मत बताकर उसे उचित ठहराया। धींगरा की निर्भीक पैरवी ने और अंत में भाव-विह्वल होकर ईश्वर और माता के जाप ने उनके अनेक देशवासियों को गहराई तक हिला दिया था। यहां तक कि उस समय के अवर उपनिवेश सचिव विंस्टन चर्चिल ने भी अदालत में धींगरा के भाषण को 'देशभक्ति के नाम पर अभी तक का सबसे सुंदर भाषण' कहा था।

लेकिन देशभक्ति के इस दौरे से प्रभावित और अपने देशवासियों के उपहास से भयभीत हुए बिना गांधी जी ने धींगरा के कृत्य की निंदा की। उन्होंने यहां तक कहा कि धींगरा ने 'कायर जैसा व्यवहार किया है' क्योंकि एक आमंत्रित अतिथि को अपने ही घर में, बिना उसे चेतावनी दिए और बिना बचाव का मौका दिए मार डालना अगर कायरता नहीं तो कुछ भी नहीं था। दूसरों ने धींगरा के साहसिक काम की प्रशंसा की कि उन्होंने जानबूझकर अपने जीवन को ऐसे ध्येय के लिए जोखिम में डाला था जिससे उन्हें निजी तौर पर कुछ मिलनेवाला नहीं था। लेकिन गांधी ज़ी ने इसे नशे की हालत का परिणाम कहा। 'व्यक्ति को सिर्फ शराब या भांग से नशा नहीं होता; कोई पागलाना विचार भी नशा पैदा कर सकता है।'

समुद्री यात्रा में संवाद

गांधी जी लंदन में जिन शिक्षित युवक भारतीयों से मिले उनके बीच देशभक्ति और धर्म के नाम पर आतंकवाद की यह स्तुति देखकर बहुत दुखी हुए। लंदन से **इंडियन ओपीनियन** को भेजे गए साप्ताहिक डिस्पैच में उन्होंने लिखा : 'मैं कहूंगा कि जो लोग मानते हैं या तर्क करते हैं कि ऐसी हत्याओं से भारत का भला होगा वे सचमुच अज्ञानी हैं। धोखा धड़ी का कोई काम कभी किसी राष्ट्र को लाभ नहीं पहुंचा सकता। अगर इन हत्याओं के फलस्वरूप कभी अंग्रेजों ने देश छोड़ा भी तो उनकी जगह कौन राज करेगा ? इसका एकमात्र उत्तर है : हत्यारे। तब प्रसन्न कौन होगा ? ...भारत को हत्यारों के शासन से कोई लाभ नहीं पहुंच सकता, भले ही वे काले हों या गोरे हों।'

इसके चलते वे देश के भाग्य के बारे में सोचने पर मजबूर हो गए। किस तरह के स्वशासन या स्वतंत्रता से उनके वे करोड़ों देशवासी सच्चे कल्याण और प्रसन्नता से लाभान्वित होंगे जो गांवों में रहते हैं और पश्चिमी सभ्यता से अभी भी अप्रभावित हैं ? तालस्ताय और रस्किन की तरह गांधी जी भी औद्योगिक सभ्यता से एक जन्मजात वितृष्णा रखते थे। वे मानते थे कि आदर्श समाज वह है जिसमें हर व्यक्ति खेत पर या किसी शिल्प में हाथों से काम करे और नैतिक नियमों का पालन करते हुए जीवन गुजारे। अगर मनुष्य 'आधुनिक सभ्यता के इस लंबे-चौड़े तमाशे के मोहजाल' से खुद को मुक्त कर ले और किसी भी रूप में अपने साथी मनुष्यों का शोषण करना बंद कर दे तो व्यक्ति की अंतरात्मा सीधे सीधे नैतिक नियम को ग्रहण कर सकती है।

डरबन की वापसी की यात्रा में उन्होंने अपने विश्वासों को सुकराती संवादों के रूप में लिख लिया। यह संवाद एक प्रतिनिधि देशभक्त युवक भारतीय के साथ था जिससे वे हाल ही में लंदन में मिले थे और जो मानता था कि ब्रिटिश जुए को उतार फेंकने के लिए कोई भी उपाय उचित है।

'समुद्री यात्रा में संवाद' में गांधी जी का प्रमुख सरोकार युवक देशभक्तों को इस धारणा से छुटकारा दिलाना था कि भारत की स्वतंत्रता देश से किसी भी प्रकार और किसी भी साधन से ब्रिटिश शासकों को भगाने में निहित है। कारण कि उसका

परिणाम होगा 'अंग्रेज के बिना अंग्रेजी शासन' या, दूसरे शब्दों में, 'बाघ नहीं लेकिन बाघ का स्वभाव।' सच्ची देशभक्ति का अर्थ यह कामना करना नहीं है कि शासन की बागडोर हमारे हाथों में हो, बल्कि समाज के लिए काम करना है ताकि 'करोड़ों लोग स्वशासन प्राप्त कर सकें।' भारतीय राजाओं या दूसरे मालिकों की निरंकुशता किसी भी प्रकार अंग्रेजों की निरंकुशता से बेहतर नहीं हो सकती। 'देशभक्ति से मेरा अभिप्राय पूरी जनता का कल्याण है, और अगर मैं अंग्रेजों के द्वारा इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकूं तो मैं उनके आगे सिर झुकाऊंगा।'

पश्चिम में जिस प्रकार लोकतंत्र का विकास हुआ है वह ऐसा कोई समाज सुनिश्चित नहीं कर सकता। कारण कि लोकतंत्र में बहुमत के बनाए नियमों का पालन करना हरेक के लिए अनिवार्य होता है। लेकिन 'यह विश्वास करना अंधविश्वास और देव-विरुद्ध है कि बहुमत का कोई कर्म अल्पमत को बांधता है। अपने मनुष्यत्व को समझ लेनेवाला मनुष्य केवल ईश्वर से डरता है, और किसी से नहीं डरता। अगर मनुष्य केवल यह समझ ले कि अन्यायपूर्ण नियमों का पालन करना मनुष्योचित नहीं है तो कोई भी निरंकुश शासन उसे कभी दास नहीं बना सकता। यह स्वशासन या स्वराज का मूलमंत्र है।' दूसरे शब्दों में, केवल वह समाज स्वतंत्र, प्रसन्न और रहने योग्य होता है जिसमें हर स्त्री-पुरुष एक संभावित सविनय अवज्ञाकारी हो। इस प्रकार गांधी जी के मुंह से थोरो बोल रहे थे।

रेलों, अदालतों, डाक्टरों और प्रशासकों पर आधारित आधुनिक सभ्यता की समझौताविहीन निंदा करने तथा शिक्षाप्रणाली में ज्ञान-विज्ञान पर जोर देने में गांधी जी पर तालस्ताय का प्रभाव भी कुछ कम स्पष्ट नहीं था। कुल मिलाकर यह कि गांधी जी ने अपनी छोटी-सी पुस्तिका **हिंद स्वराज** में जो प्रस्थापना रखी वह गांधीवादी विचारधारा के सारतत्व को उसके शुद्धतम, प्रचंडतम और सबसे भोंडे रूप में प्रस्तुत करती है।

गांधी जी के बौद्धिक संस्कार मूलतया न्यायालयी थे। उनको वकील का प्रशिक्षण ही नहीं मिला था बल्कि वे जन्मजात वकील भी थे। उन्होंने ब्रिटिश अदालतों में वकालत छोड़ी तो इसलिए कि सार्वभौम नियम या न्याय की बड़ी अदालत में वकालत कर सकें। वे बार बार संजीदगी से दावा करते रहे कि उन्हें सत्य के अलावा किसी और वस्तु की खोज नहीं है। इसके बावजूद उन्होंने अपने ढंग से इसकी तलाश की—एक न्यायाधीश के रूप में नहीं जिसका कार्य यथासंभव वस्तुगत ढंग से साक्ष्यों की छानबीन करना होता है, बल्कि एक वकील के रूप में जो पहले से ही सत्य की किसी विशेष धारणा या पक्ष से प्रतिबद्ध हो। गांधी जी अंतर्ज्ञान के बल पर अपने विचार निर्धारित करते थे और फिर अपने निष्कर्षों की बुद्धिसंगत ढंग से पैरवी करते थे।

इसके कारण वे कभी कभी किसी प्रश्न के इस या उस विशेष पक्ष पर

आवश्यकता से अधिक जोर देने लगते थे और उनका तर्क अनुचित ढंग से भोंडा या दुराग्रही दिखाई देने लगता था। यह बात **हिंद स्वराज** से खास तौर पर स्पष्ट है जैसा कि निम्न वक्तव्यों से देखा जा सकता है :

'इस समय इंग्लैंड की दुखद दशा है। मैं ईश्वर से विनती करता हूं कि भारत की कभी यह दशा न हो। वह जिसे आप संसदों की जननी मानते हैं, एब बांझ स्त्री और वेश्या के समान है। ये दोनों ही कड़े शब्द हैं, मगर इस मुआमले में सटीक ढंग से लागू होते हैं। संसद ने अपनी तरफ से अभी तक एक भी अच्छा काम नहीं किया है। इसीलिए मैंने उसकी तुलना एक बांझ स्त्री से की है। उस संसद का स्वभाव ही ऐसा है कि वह बाहरी दबावों के बिना कुछ भी नहीं कर सकती। वह इसलिए वेश्या के समान है कि वह मंत्रियों के नियंत्रण में होती है जो समय समय पर बदलते रहते हैं।'

'आपको यह बात स्पष्ट होगी कि रेलों के बिना अंग्रेजों का भारत पर वैसा नियंत्रण प्राप्त नहीं होता जैसा है। रेलों ने भी तो गिल्टीदार ताऊन को फैलाया है। उनके बिना जनता एक से दूसरे स्थान तक नहीं आ जा सकती थी। ये ताऊन के कीटाणुओं के वाहक हैं। पहले हमारे बीच प्राकृतिक अलगाव पाया जाता था। रेलों ने अकालों की बारंबारता को भी बढ़ाया है क्योंकि यातायात के साधनों की सुविधा के कारण लोग अपना अनाज बेच देते हैं और वह सबसे महंगे बाजारों को भेज दिया जाता है। लोग लापरवाह हो जाते हैं और इसलिए अकालों का दबाव बढ़ जाता है। रेलें मनुष्य की दुष्ट प्रकृति को और बढ़ाती हैं। दुष्ट व्यक्ति अपने दुष्ट अभिप्रायों को और भी तीव्रता से पूरा कर पाते हैं। भारत के तीर्थस्थल अपवित्र हो गए हैं।'

'मैं कुकर्म करता हूं, कोई रोग मोल लेता हूं और एक डाक्टर मेरा इलाज करता है। फिर अधिक संभावना इसी की है कि मैं वह कुकर्म फिर करूंगा। अगर डाक्टर बीच में न आता तो प्रकृति अपना काम करती और मैं खुद पर नियंत्रण कर पाता, कुकर्मों से मुक्त हो गया होता और प्रसन्नचित बनता। अस्पताल पाप को बढ़ानेवाली संस्थाएं हैं। मनुष्य अपने शरीर का कम ध्यान रखते हैं और अनैतिकता की वृद्धि होती है।'

'मशीनों ने यूरोप को वीरान बनाना शुरू कर दिया है। तबाही अब अंग्रेजों के दरवाजे पर दस्तक दे रही है। मशीनें आधुनिक सभ्यता का प्रमुख प्रतीक हैं। ये एक महापाप की सूचक हैं।'

'इस बात को लोग धर्मविरुद्ध मान सकते हैं, मगर मैं कहने पर मजबूर हूं कि भारत में मिलों की संख्या बढ़ाते जाने की अपेक्षा मानचेस्टर को पैसा भेजना

और मानचेस्टर के झीने कपड़े पहनना हमारे लिए बेहतर होता। मानचेस्टर के कपड़ों का इस्तेमाल करके हम केवल अपना धन बरबाद करते हैं; लेकिन भारत में मानचेस्टर को खड़ा करके हम अपने खून की कीमत पर ही अपना पैसा पास रख सकेंगे।'

वगैरह वगैरह। यहां गहरी अंतर्जात बुद्धि और तीक्ष्ण सहजबुद्धि के साथ अतिशयोक्तिपूर्ण कुतर्क का भी कुछ कम मेल नहीं है। सौभाग्य से गांधी जी हमेशा ही शब्दों की अपेक्षा जीवन में बड़े, उपदेशों की अपेक्षा कर्म में अधिक महान और तर्कों की अपेक्षा जीवन शैली में अनंतगुना अधिक रचनात्मक रहे।

हिंद स्वराज जिसे मूलतया गुजराती में लिखा और प्रकाशित किया गया था, फौरन ही भारत में मुंबई सरकार द्वारा प्रतिबंधित कर दिया गया। सौभाग्य से इससे उत्तेजित होकर लेखक ने उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया जिसकी एक प्रति उन्होंने तालस्ताय को भेजी। स्वाभाविक था कि उस वृद्ध संत को इसमें अपने विचारों की अभिव्यक्ति देखकर प्रसन्नता हुई।

गांधी जी अपनी वापसी की यात्रा के दौरान इस छोटे-से ग्रंथ को लिखाने के लिए बाध्य हुए थे और यह उन थोड़ी-सी पूर्ण हो चुकी रचनाओं में है जिसे उन्होंने एक ही सांस में, एक तीव्र बौद्धिक प्रेरणा के वातावरण में लिखा था। (उनकी अधिकांश दूसरी रचनाएं उनकी पत्रिका में प्रकाशन के लिए किस्तों में लिखी गई थीं।) यही उनके चार माह के इंग्लैंड-प्रवास की एकमात्र फलप्रद उपलब्धि थी।

तालस्ताय फार्म

लंदन में गांधी जी का राजनीतिक ध्येय व्यर्थ गया। ब्रिटिश सरकार ने बड़ी मासूमियत के साथ 'दक्षिण अफ्रीका में स्वशासी उपनिवेशों की नीति को रोकने में अपनी असहायता व्यक्त कर दी। जब वे दक्षिण अफ्रीका पहुंचे तो एक परीक्षा की स्थिति उनके सामने थी। भविष्य निराशाजनक था। सविनय अवज्ञा की गति धीमी हो चुकी थी और मनोबल गिरता जा रहा था। दूसरी ओर स्थिति का फायदा उठाकर सरकार ने दमनकारी उपायों को और चुस्त बना दिया था।

संघर्ष या पत्रिका **इंडियन ओपीनियन** को चलाते रहने के लिए जो न्यूनतम आवश्यक खर्च आता रहता था उसे पूरा करने के लिए मुश्किल से ही कुछ धन रह गया था। लगभग एक दैवी वरदान की तरह ऐन वक्त पर टाटा से बिना मांगे एक चेक मिला और भारत में दूसरे शुभचिंतकों से अन्य उपहार मिले तो फौरी संकट को टालने में मदद मिली। लेकिन यह कोई नहीं जानता था कि कब तक संघर्ष चलाते रहना होगा। गांधी जी अब जनसेवा पर ही लगभग पूरा समय और शक्ति लगा रहे थे। इसलिए वकालत के पेशे के लिए उनके पास कम ही समय बचा था और रुचि तो और भी कम बची थी, जबकि अभी तक इसी पेशे से उनको इतनी आय होती रही थी कि वे अपनी सार्वजनिक गतिविधियां चला सकें। यह एक नाजुक स्थिति थी और कुछ करना जरूरी था।

इस दशा में गांधी जी ने वह उपाय अपनाया जो एक ही साथ उनके नैतिक-राजनीतिक चिंतन का मुख्य सिद्धांत भी था और उसकी बुनियादी रणनीति भी, अर्थात स्वावलंबन का उपाय। अपने संगठन के बुनियादी भाग को आत्मनिर्भर बनाना जरूरी था। इस प्रयास में उनकी सहायता उनके जर्मन मित्र और प्रशंसक कालेनबाख ने की जो पेशे से वास्तुशिल्पी और एक घोर तालस्तायवादी थे। उन्होंने जोहान्सबर्ग से 22 मील दूर 1100 एकड़ का एक फार्म खरीदा हुआ था। काले कानून के उल्लंघन और आव्रजन संबंधी प्रतिबंध का उल्लंघन करने पर गिरफ्तार होनेवाले सविनय अवज्ञाकारियों के परिवारों के निवास और निर्वाह के लिए उन्होंने इसे गांधी जी के हवाले कर दिया। रूस के संत की आज्ञा और आशीर्वाद से उन्होंने इसका नाम तालस्ताय फार्म रखा तथा इसे ऐसे सिद्धांतों पर और ऐसे ढंग से चलाया

कि तालस्ताय अगर जीवित रहे होते तो इसे देखकर उनकी आत्मा गद्गद् हो उठती।

अब गांधी जी के पास दो सामुदायिक बस्तियां थीं। (इन्हीं को भारत में आश्रम कहा गया।) एक तो डरबन के करीब फोनिक्स जहां से **इंडियन ओपीनियन** प्रकाशित होता था और जहां उनकी पत्नी और बच्चे रहते थे। दूसरे जोहान्सबर्ग के बाहर तालस्ताय फार्म जहां स्वयं, गांधी जी और कालेनबाख रहते थे तथा जेल गए सत्याग्रहियों के परिवारों के साथ मिलकर काम करते थे। दोनों स्थानों का जीवन घोर सादगी का था और अनुशासन भी इसी प्रकार का था।

ये गांधी जी के लिए सबसे फलदायक और सुखकर दिन थे। उन्हें कठिनाइयों में सुख मिलता था, और जिसे आमतौर पर आत्मनिषेध कहा जाता था उसे वे आत्मपरिपूर्णता मानते थे। अपने हृदय की प्रसन्नता के लिए वे एक किसान और एक मजदूर की तरह अपने हाथों से काम करते थे, जैसे मिट्टी खोदना, लकड़ी चीरना, दीवारों पर पलस्तर करना। उन्होंने एक विद्यालय चलाया और अपने घर से बाहर मष्तिष्क नहीं बल्कि हृदय द्वारा, अक्षरों नहीं बल्कि शारीरिक श्रम के द्वारा शिक्षा देने का पहला प्रयोग किया। वे सांपों के बीच रहे और उनको तसल्ली थी कि एक सांप भी उन्होंने नहीं मारा। यहां मठों वाला अनुशासन चलता था मगर भावना प्रसन्नता की पाई जाती थी।

कुछ परेशानियां निःसंदेह आईं। कुछ बच्चे उच्छृंखल थे और प्रेम का हमेशा उन पर प्रभाव नहीं पड़ता था। एक बार गांधी जी—जो महात्मा होने के बाद भी इतने मानवीय थे कि कभी कभी क्रोधित हो उठते थे—एक उच्छृंखल बच्चे से इतने तंग आ गए कि एक डंडी से उसे सचमुच मार बैठे। हिंसा का यह एकमात्र प्रयोग उनकी यादों में हमेशा बैठा रहा।

एक सहशैक्षिक प्रयोग में मठों जैसे ब्रह्मचर्य को बनाए रखना या लागू करना भी हमेशा आसान नहीं होता था। यौन संबंधी दुस्साहस उनके लिए सबसे अधिक पापपूर्ण भटकाव थे, और इनका होना लाजिमी था। जब फोनिक्स बस्ती में ऐसी एक घटना हुई, वे दौड़कर वहां पहुंचे, सप्ताह भर का व्रत रखा और फिर एक पखवाड़े तक और भी अधिक कष्टपूर्ण प्रायश्चित किए। यह उनके जीवन के 18 प्रसिद्ध व्रतों में पहला था।

दूसरों के दोष देखने की बजाय अपने को दोषी समझना गांधी जी का जीवन भर का धर्म रहा। भविष्य की तरह यहां भी उन्होंने अपने संरक्षितों के दुराचरण के लिए खुद को दोषी माना। 'इसलिए मैंने स्वयं को सात दिनों के व्रत का और साढ़े चार मास तक दिन में केवल एक बार भोजन करने का दंड दिया...मेरा प्रायश्चित हरेक को दुख देता था, लेकिन उसने वातावरण को निर्मल बनाया। हरेक यह समझने लगा कि पापकर्म करना भयानक बात है, और लड़के-लड़कियों से मुझे

जोड़नेवाला संबंध और भी मजबूत और सच्चा बना।'

यह भोलीभाली मान्यता कि उनके प्रायश्चित से वास्तव में दूसरों का हृदय-परिवर्तन होता था, उनके साथ जीवन भर बनी रही। राजनीतिक और व्यापारिक वार्ताओं में वे ऐसे तीक्ष्ण-बुद्धि वकील का व्यवहार करते थे जो आसानी से दूसरों की कही बातों में नहीं आता। लेकिन अपनी नैतिक अंतरात्मा से संबंधित विषयों में वे दूसरों की कही बातों पर विश्वास करने को तैयार थे।

तूफान और पहले की खामोशी

यह सब तब हो रहा था जब सविनय अवज्ञा जारी थी और सत्याग्रहियों के जत्थे ट्रांसवाल में प्रवेश करके जेल, कोड़ों या निर्वासन का दंड भोग रहे थे। साम्राजी सरकार के 'सौम्य' संरक्षण में होनेवाली इन बर्बरताओं की खबरें भारत में क्षोभ की वृद्धि कर रही थीं। कारण कि गोखले बड़े जोश से इस प्रश्न को उठा रहे थे। जार्ज पंचम का सत्तारोहण क़रीब था और ब्रिटिश अधिकारी भारतीयों की भावना को सहलाने के प्रति चिंतित थे। पूरे साम्राज्य के इस हित को ध्यान में रखकर दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने 1911 के आरंभ में घोषणा की कि भारतवासियों को एशियाई मानकर उनके खिलाफ नस्ली आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। ट्रांसवाल में प्रवेश एक शैक्षिक परीक्षण के आधार पर दिया जाएगा। इसी के आधार पर चार वर्षों से जारी सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया और कैदी रिहा कर दिए गए। लेकिन जैसा कि बाद की घटनाओं ने दिखाया, यह सब तूफान से पहले की खामोशी के अलावा कुछ भी नहीं था।

1912 में गोखले ने दक्षिण अफ्रीका की यात्रा की और उनको एक सरकारी मेहमान जैसा आदर दिया गया। गोखले गांधी जी के राजनीतिक आदर्श थे, हालांकि अनुयायी अंततः अपने आदर्श से महान सिद्ध हुआ, और उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के ध्येय में निजी तौर पर भारी दिलचस्पी दिखाई थी। गांधी जी गोखले की यात्रा से फूले नहीं समाए और उनकी पूरी यात्रा के दौरान उनके सचिव, छात्र और सेवक की तरह उनके साथ लगे रहे। गोखले को मधुमेह का रोग था और उनके भोजन पर सख्त नियंत्रण आवश्यक था। गांधी जी भोजन की तैयारी पर खुद नजर रखते थे। इसमें उन्हें श्रीमती पोलक से सहायता मिलती थी जो यह सब देखकर अंदर तक प्रभावित भी हुई और प्रसन्न भी। बाद में इसको याद करके उन्होंने लिखा था : 'श्रीगोखले भी अपने कंधों पर ज़ो मराठा शाल डालते थे उसकी सफाई और सही मोड़ के बारे में बहुत सचेत रहते थे और श्रीगांधी अपने हाथों से सावधानी से उस पर इस्तरी करते और उसमें क्रीज डालते थे।'

गोखले दक्षिणी अफ्रीका सरकार द्वारा किए गए सत्कार से तथा जनरल बोथा और जनरल स्मट्स के आश्वासनों से बहलावे में आ गए। मंत्रियों के साथ लंबी

बैठक के बाद उन्होंने गांधी जी से कहा : 'आप साल भर में भारत लौट जाएं। यहां सब कुछ तय हो चुका है। काला कानून वापस ले लिया जाएगा। आव्रजन कानून से नस्ल की बाधा समाप्त कर दी जाएगी। तीन पाउंड का कर हटा लिया जाएगा।' लेकिन इसमें गांधी जी को शंकाएं थीं। राजनीतिक विषयों में वे पेशेवर राजनीतिज्ञों से कहीं अधिक चतुर बन जाते थे।

गोखले ने दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी के कामों और उनके अनुयायियों के मनोबल का जो कुछ दर्शन किया उससे वे बहुत अधिक प्रभावित हुए। उन्होंने वापसी के बाद मुंबई में एक सार्वजनिक भाषण में कहा था : 'केवल वे ही लोग जो आज के श्रीगांधी के निजी संपर्क में आए हैं, उस मनुष्य के अद्‌भुत व्यक्तित्व को समझ सकते हैं। निःसंदेह वे ऐसी मिट्टी के बने हैं जिनसे नायक और शहीद बने होते हैं। इतना ही नहीं, उनके अंदर अपने आसपास के साधारण व्यक्तियों को भी नायकों और शहीदों में रूपांतरित करने की प्रशंसनीय आध्यात्मिक शक्ति मौजूद है।'

दक्षिण अफ्रीकी नेताओं द्वारा दिए गए आश्वासनों के बारे में गोखले का आशावाद अल्पजीवी सिद्ध हुआ। जल्द ही स्मट्स ने घोषणा की कि सरकार भूतपूर्व करारबंद श्रमिकों और उनके परिवारों पर लगा तीन पाउंड का कर समाप्त करने में असमर्थ है। इसके बाद बाई मरियम के मुकदमे में उच्चतम न्यायालय का फैसला आया जिसने आव्रजन के सिलसिले में उन सभी भारतीय विवाहों को अवैध ठहराया जो ईसाई रीति से संपन्न नहीं किए गए थे और जिनका समुचित पंजीकरण नहीं हुआ था। हिंदुओं, मुसलमानों या पारसियों के भारतीय वैवाहिक जीवन की पवित्रता पर हुए इस भयानक आघात ने व्यापाक रूप से क्षोभ को जन्म दिया और स्त्रियों को भी प्रेरित किया कि वे अपने सम्मान की रक्षा के लिए पुरुषों के साथ मैदान में उतरें। अब करारबंद मजदूरों में तथा सभी वर्गों की स्त्रियों में भी गांधी जी के पास संभावित सविनय अवज्ञाकारियों की एक भारी सेना मौजूद थी।

इस प्रकार सितंबर 1913 में उस संघर्ष के अंतिम चरण का आरंभ हुआ जिसका विस्तृत वर्णन गांधी जी ने अपनी रचना **दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह** में किया है। हमेशा की ही तरह उन्होंने सावधानी से कदम उठाया। फोनिक्स से केवल 16 स्वयंसेवकों के एक दल ने, जिनमें उनकी पत्नी भी थीं, बिना परमिट भारतीयों के प्रवेश पर रोक लगाने वाले प्रतिबंध का उल्लंघन करते हुए ट्रांसवाल में प्रवेश किया। उनको गिरफ्तार कर लिया गया और कठोर कारावास की सजा दी गई। फिर तालस्ताय फार्म से स्वयंसेविकाओं के एक दल ने उलटी दिशा में अर्थात ट्रांसवाल से नेटाल में प्रवेश किया और उसने न्यू कैसिल पहुंचकर भारतीय खदान मजदूरों को हड़ताल के लिए प्रेरित किया। ये स्त्रियां गिरफ्तार कर ली गईं और हड़ताल फैल गई। खदान मजदूरों और उनके परिवारों को उनकी झुग्गियों से

निकालकर अधिकारियों ने वहशियाना जवाबी हमला किया।

अब गांधी जी के सामने एकाएक हजारों बेघर, बेकार और भूखे श्रमिकों की देखभाल करने, उनको भोजन देने और उसमें व्यवस्था बनाए रखने की जिम्मेदारी आ खड़ी हुई। अब उन्होंने एक प्रतिभापूर्ण रणनीति तैयार की। उन्होंने इन भूखे, लक्ष्यहीन लोगों को एक सेना का रूप दे दिया जो गिरफ्तारी देने के लिए ट्रांसवाल में पहुंच गई। बेहतर है कि अधिकारी ही उन्हें रहने की जगह और भोजन दें ! इस प्रकार स्त्री-पुरुषों की एक अनंत शृंखला का अभियान आरंभ हुआ। इनमें अनेक स्त्रियों की गोद में बच्चे भी थे।

अपरिहार्य और आकस्मिक, सभी कठिनाइयों और कष्टों को हंसकर झेला गया। एक बार जब एक नदी पार की जा रही थी तो एक माता की गोद से उसका एक बच्चा फिसलकर गिरा और डूब गया। मगर उस बहादुर माता ने यह कहकर अपना अभियान जारी रखा कि 'हमें मरनेवालों का रोना नहीं रोना चाहिए जो हमारे तमाम रोने-धोने के बावजूद वापस नहीं आएंगे। हमें तो जिंदा लोगों के लिए अपना काम जारी रखना चाहिए।'

अभियान का नेतृत्व करनेवाले गांधी जी को उनके वफादार यूरोपीय सहयोगी कालेनबाख, पोलक तथा गांधी जी की दक्ष और निष्ठावान सचिव सुश्री श्लेसिन की सहायता प्राप्त थी। उनको चार दिनों में तीन बार गिरफ्तार किया गया। अंततः उन पर मुकदमा चलाकर नौ माह की कैद की सजा दे दी गई। उनकी गिरफ्तारी के बाद कालेनबाख और पोलक भी गिरफ्तार हुए। अगर अधिकारियों को आशा थी कि वे उनके बीच से उनके प्रमुख प्रेरक और मार्गदर्शक को हटाकर अभियान-कर्ताओं को हतोत्साहित कर सकेंगे, तो उनकी आशा पूरी नहीं हुई।

उनको हतोत्साहित करने में असफल होकर अधिकारियों ने पाशविक बल्कि लगभग अमानवीय उपायों का सहारा लिया। जेल की सजा के एक हिस्से के तौर पर खदान मजदूरों को कोड़े दिखाकर उन्हीं खदानों में जाने पर मजबूर किया गया जहां उन्होंने हड़ताल की थी। जब उन्होंने इनकार किया तो उनको बेरहमी से कोड़े मारे गए। भारत में जनता ने व्यापक क्रोध-भाव के साथ इन पाशविक कृत्यों की खबरों को सुना। यहां तक कि ब्रिटिश वायसराय लार्ड हार्डिंग्ज ने भी खुलकर उन 'उपायों' की सार्वजनिक निंदा की 'जिन्हें अपने को सभ्य कहने वाले किसी भी देश को एक पल भी बरदाश्त नहीं करना चाहिए।'

पहले ही एक दुरात्मा से पीड़ित साम्राजी सरकार ने जनरल स्मट्स पर दबाव डाला जो गांधी जी के शब्दों में 'उस सांप की गति को पहुंच चुका था जिसने छछूंदर को दबोच लिया हो और अब न उसे निगल सकता हो न उगल सकता हो।' उसने शर्मिंदगी से बचने का एक आम तरीका अपनाया और भारतीयों की शिकायतों की छानबीन के लिए एक आयोग बिठा दिया। गांधी जी अपने सहयोगियों, कालेनबाख

और पोलक के साथ रिहा कर दिए गए। इस बीच गोखले ने भारत से दो विशाल-हृदय अंग्रेजों को भेजा। ये थे चार्ल्स फ्रीयर एंड्रयूज और डब्ल्यू. डब्ल्यू. पियर्सन जिनकी मध्यस्थता उपयोगी साबित हुई। वे सही अर्थों में ईसाई थे और जब वे पहली बार गांधी जी से मिले तो उन्हें आसिसी के सेंट फ्रांसिस का खयाल आ गया।

गांधी जी इस गोरों से भरे आयोग से संतुष्ट न थे और उन्हें भय था कि वे पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। इसलिए उन्होंने फिर से सविनय अवज्ञा शुरू करने की धमकी दी। लेकिन वे ऐसा करें, उसके पहले ही स्मट्स के सामने एक बहुत बड़ा संकट आ गया। दक्षिण अफ्रीकी रेलवे के मजदूर, जो सभी गोरे थे, हड़ताल पर चले गए। स्थिति इतनी गंभीर थी कि मार्शल ला लगा दिया गया। गांधी जी ने इस अवसर पर उपयुक्त व्यवहार किया। उन्होंने अपने विरोधी की कठिनाइयों से फायदा उठाने से इनकार करते हुए अपना सविनय अवज्ञा आंदोलन वापस ले लिया। इस अप्रत्याशित सद्भाव ने उनके अक्खड़ विरोधियों के दिलों को छू लिया और शत्रुता का वातावरण समझौते का वातावरण बन गया। स्मट्स वार्ताओं पर राजी हुआ और उसने गांधी जी को बुला भेजा।

गांधी जी के संघर्ष के 'अनोखे' तरीके की समीक्षा करते हुए प्रोफेसर गिलबर्ट मुरे ने टिप्पणी की थी : 'ताज्जुब नहीं कि उस समय वे विजयी रहे। कोई भी सचमुच में मानवीय शत्रु संघर्ष के इस ढंग के सामने ठहर नहीं सकता था।'

दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि दक्षिण अफ्रिका में गांधी जी का व्यवहार एक संकीर्ण भारतीय देशभक्त जैसा था और उनकी क्रांतिकारी भूमिका अपने देशवासियों के हितों की रक्षा करने तक सीमित थी। उन्होंने देसी अफ्रीकियों के कहीं अधिक वैध अधिकारों की पैरवी नहीं की जिनके साथ उनके अपने ही देश में उन भारतीय प्रवासियों से अधिक दुर्व्यवहार किया जा रहा था जिनको बहरहाल आर्थिक लोभ दिखाकर लाया या खींचा गया था। उन पर राष्ट्रीय संकट के समय शासक वर्ग का साथ देकर गोरे मजदूर वर्ग से धोखा करने का आरोप भी लगाया गया है।

इस रूढ़िवादी क्रांतिकारी विचारधारा की कसौटी पर गांधी जी को परखना उनके मन को तथा उनकी प्रेरणा और शक्ति के स्रोतों को पूरी तरह गलत समझने के बराबर है। गांधी जी कोई लेनिन या माओ नहीं थे और न बनना चाहते थे। उनके मूल्यों के आधार पर गांधी जी को परखना उतना ही बकवास है जितना गांधी जी के मूल्यों के आधार पर उनको परखना।

बहरहाल जनवरी 1914 में गांधी जी और स्मट्स के बीच एक तदर्थ समझौता हुआ। फिर जून में संघीय धारासभा में एक विधेयक पारित हुआ जिसके अनुसार तीन पाउंड का कर समाप्त कर दिया गया, भारतीय संहिता या परंपरा द्वारा विहित

सभी विवाहों को कानूनी मान्यता दी गई, तथा कुछ और रिआयतें दी गईं। यह सामान्य अर्थ में किसी भी पक्ष की जीत नहीं थी जहां एक पक्ष की विजय का अर्थ दूसरे पक्ष की पराजय और अपमान हो। गांधी जी के अनोखे संघर्षों में विजय दोनों पक्षों की होती थी। सत्याग्रह का यही सौंदर्य था जिसका दावा गांधी जी करते थे कि इनमें विपक्षी को हराकर नहीं, उसे अपना बनाकर विजय प्राप्त की जाती है। यह उस हिंसक युद्ध से बहुत ही भिन्न थी जिसमें जीत की कीमत प्राप्त लाभों से हमेशा ही अधिक होती है। यही तो सम्राट अशोक ने कलिंग को तहसनहस करने के बाद महसूस किया था। फिर दो हजार साल से अधिक समय बाद इसी का एहसास ड्यूक आफ विलिंगडन ने किया था जिसने नेपोलियन की अपराजेय दिखनेवाली सेनाओं को हराने के बाद कहा था : 'हारी हुई लड़ाई को छोड़कर कुछ भी ऐसा नहीं जो जीती हुई लड़ाई के दुख से आधा भी दुखदायी हो।'

अलविदा अफ्रीका

गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका में अपने देशवासियों और यूरोपीय लोगों को छोड़ते समय उनको जो 'विदाई पत्र' लिखा था उसमें, एक आशावादी होने के नाते, उन्होंने स्मट्स के साथ हुई सहमति को, जो मूलतया एक समझौता था, 'इस देश में हमारी स्वाधीनता का मैग्ना चार्टा' कहा था। अंग्रेज चरित्र की अंतर्जात उत्कृष्टता, उनकी महान परंपरा, ब्रिटिश संविधान और ब्रिटिश साम्राज्य के बुनियादी मानवीय सारतत्व में विश्वास का जादू अभी भी उन पर छाया हुआ था। वे इनके गुण गाते नहीं थकते थे।

वे कहते हैं : 'मैंने इसे यह ऐतिहासिक नाम इसलिए नहीं दिया है कि यह हमें वे अधिकार देता है जो हमारे पास कभी नहीं रहे और जो अपने-आपमें नए और उल्लेखनीय हैं, बल्कि इसलिए कि यह हमें आठ वर्षों की भारी तकलीफों के बाद मिला है जिसमें भौतिक संपत्तियों और कीमती जानों का नुकसान हुआ है। मैं इसे इसलिए अपना मैग्ना चार्टा कहता हूं कि यह हमारे प्रति सरकार की नीति में एक परिवर्तन का सूचक है और हमें प्रभावित करनेवाले विषयों में हमसे विचारविमर्श किए जाने के प्रति हमारे अधिकार ही नहीं बल्कि हमारी उचित इच्छाओं का सम्मान किए जाने के अधिकार को भी स्थापित करता है। इसके अलावा यह ब्रिटिश संविधान के इस सिद्धांत की पुष्टि करता है कि सम्राट के विभिन्न प्रजागण के बीच कोई कानूनी नस्ली असमानता नहीं होनी चाहिए, भले ही स्थानीय दशाओं के अनुसार यथार्थ व्यवहार चाहे जितना भिन्न हो। इस सहमति को सबसे बढ़कर इसलिए हमारा मैग्ना चार्टा कहा जा सकता है कि यह एक कानूनी और साफ-सुथरे अस्त्र के रूप में शांतिपूर्ण प्रतिरोध के महत्व की पुष्टि करती है और इसने शांतिपूर्ण प्रतिरोध के रूप में हमारे समुदाय को एक नयी शक्ति दी है। मैं इसे मताधिकार की अपेक्षा अनंतगुना श्रेष्ठ शक्ति मानता हूं जिसे, जैसा कि इतिहास ने दिखाया है, अकसर खुद मतदाताओं के खिलाफ इस्तेमाल किया जाता रहा है।'

केप टाउन के एक सार्वजनिक विदाई समारोह में बोलते हुए उन्होंने एक मिश्रित श्रोतागण से कहा था : 'सही या गलत, भले के लिए या बुरे के लिए, अंग्रेज

और भारतीय अब आपस में बंध चुके हैं और दोनों नस्लों को यही शोभा देता है कि वे खुद को बदलें ताकि आनेवाली पीढ़ियों के लिए एक शानदार विरासत छोड़ सकें और दिखा सकें कि यूं तो साम्राज्य बनते और बिगड़ते रहे हैं मगर यह साम्राज्य संभवतया एक अपवाद है और यह कि यह साम्राज्य भौतिक नहीं, नैतिक आधारों पर स्थापित है।'

अगले पांच वर्षों के दौरान इंग्लैंड और भारत, दोनों जगहों पर ब्रिटिश सरकार ने ऐसे निष्ठावान मित्र की इस भरपूर निष्ठा को पूरी तरह नष्ट कर दिया—यह साम्राज्य के भाग्य की महान विडंबना ही तो है। भक्त का अंधापन तो देर-सबेर चला ही जाता है मगर साम्राजी देवताओं का अंधापन बढ़ता जाता है।

रोम्यां रोलां ने कहा था : 'गांधी यूरोप में कोई विशेष टीका-टिप्पणी का पात्र बने बिना दक्षिण अफ्रीका में बीस वर्षों से अधिक समय तक अभियान चलाते रहे—यही हमारे राजनेताओं, इतिहासकारों, चिंतकों और आस्थावानों की अवर्णनीय अल्पदृष्टि का प्रमाण है। कारण कि गांधी के प्रयास एक आत्मा के ऐसे वीरगाथा-काव्य हैं जो अपनी तीव्रता और आवश्यक बलिदानों की निरंतरता के कारण ही नहीं बल्कि अंतिम विजय के कारण भी हमारे युग के लिए अद्वितीय हैं।'

18 जुलाई 1914 को गांधी जी ने कस्तूरबाई और कालेनबाख के साथ उस अंधकारपूर्ण महाद्वीप पर आखिरी बार अपनी निगाह दौड़ाई जहां उन्हें अपना प्रकाश प्राप्त हुआ था। आज उनके देशवासी दक्षिण अफ्रीका के बारे में चाहे जो सोचें या कहें, इस ईश्वरभीरु मनुष्य ने, जिसने कभी अपना सार्वभौम मानव का गुण नहीं छोड़ा, चाहे वह अपने देशवासियों से जितना ही प्रेम करता रहा हो, अपने दिल में कोई कड़वाहट नहीं रखी। वास्तव में उन्होंने अपने विदाई के वक्तव्य में कहा था : 'यह उपमहाद्वीप मेरे लिए एक पवित्र और प्रिय भूमि बन चुका है जिसका स्थान मेरी मातृभूमि के बाद ही है। मैं दक्षिण अफ्रीका की धरती को भारी दिल से छोड़ रहा हूं, और जो दूरी अब मेरे और दक्षिण अफ्रीका के बीच होगी वह मुझे उसके और करीब ही लाएगी। उसका कल्याण हमेशा हमारे लिए भारी सरोकार का विषय रहेगा और मुझे मेरे देशवासियों द्वारा दिया गया प्रेम और यूरोपीयों द्वारा दिखाई गई उदार सहिष्णुता और दयालुता मेरी स्मृति में सबसे प्रिय धन की तरह हमेशा सुरक्षित रहेंगी।'

गांधी जी अपने देश में लौटने के लिए चाहे जितने बेचैन रहे हों, उनको इंग्लैंड जाना पड़ा जहां गोखले ने उन्हें बुलाया था। पिछले तीन साल भारी मुसीबतों से भरे रहे थे और अभी हाल में उन्होंने किसी और की गलती के लिए एक पखवाड़े का व्रत रखा था। वे तंदुरुस्त तो नहीं थे, मगर उन्होंने तीसरे दर्जे में सफर करने पर जोर दिया। सौभाग्य से स्टीमर के अधिकारियों ने उनके और उनके सहयात्रियों के लिए डेक पर ही विशेष व्यवस्था कर दी और फलाहार की आपूर्ति का पर्याप्त

बंदोबस्त कर दिया। कालेनबाख की मित्रता सौहार्दपूर्ण थी और फुरसत के समय वे अपनी भावी योजनाओं पर विचार-विमर्श कर सकते थे।

गांधी जी ने इस यात्रा के दौरान घटित एक घटना का वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि उनके साथ घनिष्ठ साहचर्य की विशेष अनुकंपा भी बेकीमत नहीं होती थी। कालेनबाख के पास एक जोड़ी से अधिक दूरबीन थीं और उनके मित्र-मार्गदर्शक उनके प्रति कालेनबाख के लगाव को नापसंदगी के साथ देखते थे। दूरबीनों की यह संपत्ति असंग्रह के उस आदर्श से कैसे मेल खाती थी जिसके पालन का दावा कालेनबाख करते थे ? इसलिए ये चीजें उनके साथ झगड़े का कारण बनें, इससे बेहतर है कि क्यों न उनको समुद्र में फेंककर उनसे छुटकारा पा लिया जाए ? यह गांधी जी का सुझाव था। कालेनबाख भी कुछ कम नहीं थे। उन्होंने फौरन जवाब दिया : 'बेशक इस कमबख्त चीज को फेंक दीजिए।' 'और उसके बाद मैंने फौरन उनको समुद्र में फेंक दिया,' ऐसा गांधी जी ने लिखा है और उनके कथन में संतोष का कुछ गर्व भी था।

जैसे ही जहाज इंग्लिश चैनल में पहुंचा, मुसाफिरों पर प्रथम विश्वयुद्ध के फूट पड़ने का समाचार सुनकर पहाड़ टूट पड़ा। जहाज को चैनल पार करने में दो दिन लगे क्योंकि उसे सावधानी से बारूदी सुरंगों से बचाकर ले जाना पड़ रहा था। लंदन पहुंचकर गांधी जी को पता चला कि गोखले जो पेरिस गए हुए थे, वहीं फंस गए थे।

साम्राज्य के प्रति कर्तव्य

ब्रिटेन के युद्धरत होने पर गांधी जी का कर्तव्य क्या था ? निष्क्रियता या खामोश बैठकर कुछ न करना, या मनोहारी अमरीकी मुहावरे के अनुसार गोलमोल रवैया अपनाना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। उन्होंने बोअर युद्ध या 'जुलू विद्रोह' के समय अपने कर्मों को याद किया। क्या साम्राज्य के संकट की घड़ी में उन्हें फिर एक बार उसे अपनी सेवाएं प्रदान करनी चाहिए ?

इंग्लैंड में उन्होंने अपने भारतीय मित्रों से परामर्श किया। अनेक का तर्क था कि इंग्लैंड की जरूरत भारत के लिए अपने आजादी के दावे को ठोंकने का अच्छा अवसर थी। उनका कहना था—जो व्यवस्था गुलामी को संभव बनाती है उसकी रक्षा में मालिक की मदद करना गुलाम का फर्ज नहीं है।

लेकिन यह तर्कप्रणाली गांधी जी को नहीं जंची। पहली बात यह कि वे उस समय ब्रिटेन को भारत की आजादी का दुश्मन नहीं मानते थे। दूसरी बात यह कि अगर ब्रिटेन को दुश्मन माना भी जाए तो मुसीबत में फंसे दुश्मन से फायदा उठाना न बहादुरी है और न उचित है। इसलिए उन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों को पत्र लिखा कि वे एक भारतीय एंबुलेंस कार्प्स का गठन करना चाहते हैं, और उन्होंने इंग्लैंड और आयरलैंड में रहनेवाले भारतवासियों को इसमें भरती होने का निमंत्रण दिया।

हेनरी पोलक ने उनको दक्षिण अफ्रीका से तार भेजा जिसमें उनके अहिंसा के व्रत के साथ इस कर्म की अनुकूलता पर सवाल उठाया गया था। लेकिन इस या किसी और मुआमले में गांधी जी कभी कट्टर नहीं रहे—न तब और न आगे चलकर। वे न तो निष्क्रियता की परंपरागत प्रथा के कट्टर अनुयायी थे और न ही अहिंसा के अपने व्रत की किसी अलचकीली व्याख्या के प्रति कट्टर रहे। उनकी अपनी धारणा विकासमुखी थी और उसके प्रयोग जारी थे। वे सैनिकों और असैनिकों में कोई अंतर नहीं करते थे। अगर ध्येय ही निकृष्ट हो तो व्यक्ति को किसी भी रूप में उससे कोई सरोकार नहीं रखना चाहिए। दूसरी ओर अगर व्यक्ति कुछ फैसला न कर सके तो उसे सहायता के लिए जो कुछ संभव हो करना चाहिए।

अपने भतीजे और घनिष्ठ सहयोगी मगनलाल को लिखे एक पत्र में उन्होंने अपने चिंतन की पद्धति को स्पष्ट किया है : 'जो व्यक्ति किसी कसाईखाने में

मददगार नहीं है उसे कसाई के घर की सफाई में भी सहायता नहीं करनी चाहिए। लेकिन इंग्लैंड में रहकर मैंने पाया कि एक तरह से मैं भी युद्ध में भाग ले रहा हूं। लंदन को युद्धकाल में जो भोजन मिल रहा है वह इसलिए कि जलसेना उसकी सुरक्षा कर रही है। इसलिए भोजन ग्रहण करना भी एक गलत काम था...इसलिए युद्ध के लिए कुछ किए बिना उससे कलंकित भोजन को ग्रहण करना भी मुझे कमीनापन लगता था। जब सैकड़ों लोग जीवन का बलिदान करने के लिए सिर्फ इसलिए आगे आए हैं कि वे इसे अपना कर्तव्य मानते हैं, तो मैं खामोश कैसे बैठ सकता हूं ? यह हाथ कभी कोई राइफल नहीं चलाएगा। इसलिए सिर्फ घायलों की सेवा-सुश्रुषा का काम रहता था और उसे मैंने संभाल लिया।'

जब ब्रिटिश सरकार ने गांधी जी के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया तो उनको और उनके साथ स्वयंसेवक बननेवालों को प्रशिक्षण के लिए भेज दिया गया। लेकिन प्रशिक्षण पूरा होने और मोर्चे पर कार्प्स के भेजे जाने से पहले ही प्लूरिसी हो गई और उन्हें कार्प्स छोड़ना पड़ा। मित्रों, डाक्टरों और अधिकारियों ने उनको भारत जाने और इंग्लैंड के जाड़े से बचने के लिए तैयार कर लिया जो उनके स्वास्थ्यलाभ के लिए अनुकूल नहीं होता। उन्हें यह सलाह माननी पड़ी और वे अपनी पत्नी के साथ दिसंबर में घर के लिए चल पड़े।

जर्मन होने के नाते कालेनबाख को गांधी जी के साथ भारत जाने की अनुमति नहीं दी गई हालांकि गांधी जी ने उनको एक ब्रिटिश पासपोर्ट दिलाने के लिए सारी कोशिशें कीं। गांधी जी ने लिखा है : 'श्री कालेनबाख से जुदा होना मेरे लिए भारी मानसिक पीड़ा का कारण था, लेकिन मैं देख रहा था कि उनका दुख कहीं अधिक है।'

घर की यात्रा के दौरान कोई घटना नहीं घटी। गांधी जी ने केवल इतना देखा कि अंग्रेज और भारतीय मुसाफिरों की 'दूरी' उनकी दक्षिण अफ्रीका से इंग्लैंड की यात्रा की अपेक्षा कहीं अधिक थी। उन्होंने वातावरण को अशुभ समझा और वे जल्दी अपने देश पहुंचने के लिए आतुर हो उठे जहां उनसे पहले पहुंच चुके गोखले उनका स्वागत करने की राह देख रहे थे। वे 'दस वर्षों के देशकाल के बाद' घर लौट रहे थे हालांकि उसकी कुल अवधि इसकी दोगुनी थी।
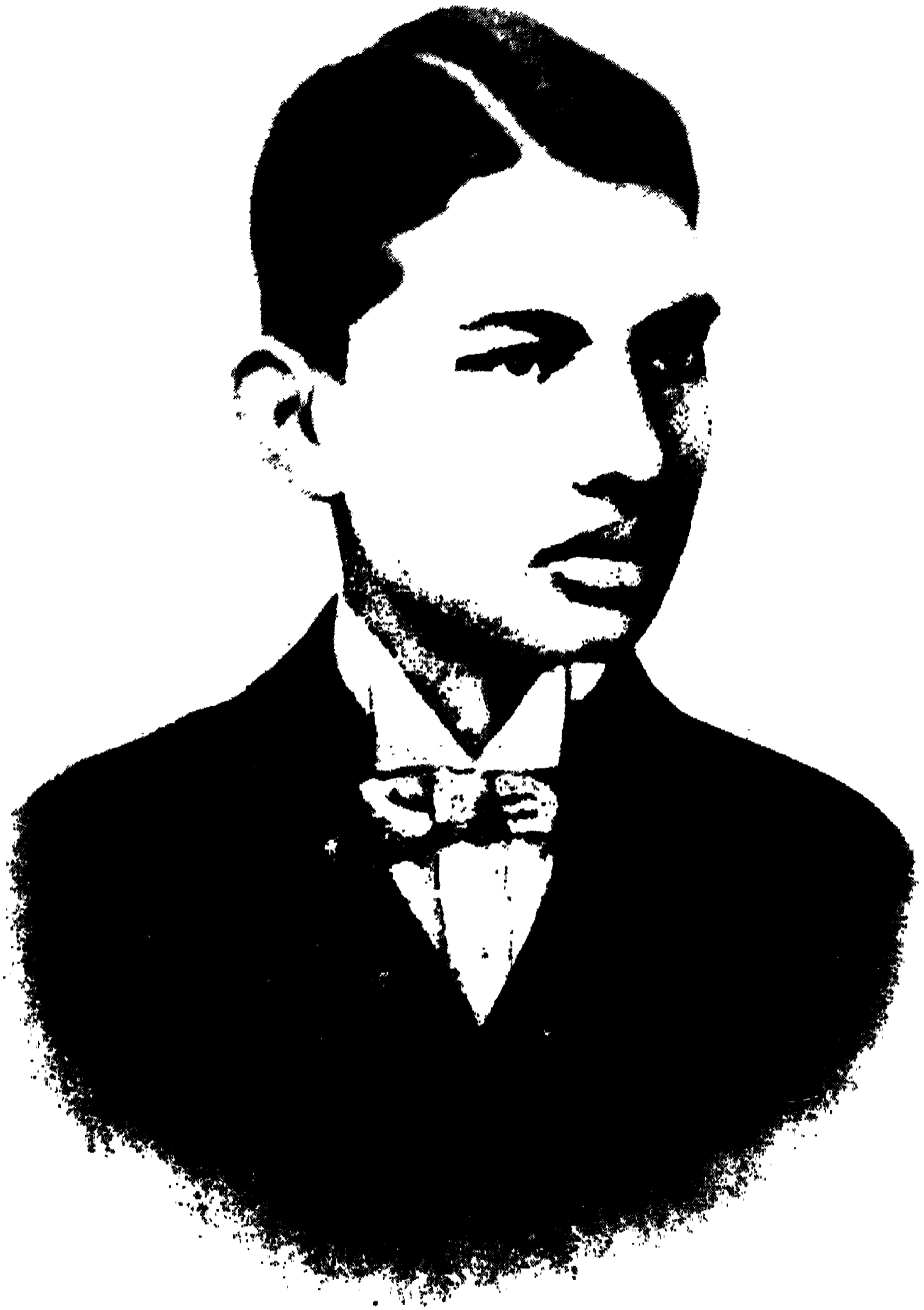
लंदन में कानून के विद्यार्थी

दक्षिण अफ्रीका (1913) में पत्नी कस्तूरबा के साथ

जोहान्सबर्ग में (1900)

दक्षिण अफ्रीका में एंबुलेंस दल के सार्जेंट-मेजर

दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रही के रूप में

नयी दिल्ली (1924) में 21 दिन के उपवास के समय 6 वर्ष की बालिका इंदिरा के साथ

प्रसन्नता के क्षण

पत्र लिखते हुए

स्विट्जरलैंड में रोलां के साथ

जवाहरलाल नेहरू के साथ

शांतिनिकेतन में (1940) रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ

नोआखाली (1947) में बांस से बने पुल को पार करते हुए

नोआखाली-टोपी लगाए गांधी चरखा कातते हुए

अंतिम दर्शन

घर को वापसी

अप्रैल 1893 में एक युवक, अपरिपक्व और अनुभवहीन बैरिस्टर परेशानी की हालत में सुख-समृद्धि की तलाश में दक्षिण अफ्रीका के लिए चल पड़ा था। जनवरी 1915 में गांधी जी दो दशकों से अधिक समय के बाद घर लौटे जो बेहतर ही था। यह काल 'समृद्धि की एक अनोखी तलाश' का काल था जिसके दौरान उन्होंने वह थोड़ी-बहुत संपत्ति भी गंवा दी जिसे वे आरंभ में अपनी यात्रा पर निकलते हुए लेकर चले थे। वे अपने साथ एक अदृश्य और अक्षुण्ण समृद्धि अवश्य लेकर लौटे लेकिन यह महाकवि रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों में 'भिखारी का भेष धारे एक महान आत्मा' की संपत्ति थी। सोने की खदानों की समृद्ध धरती में उन्होंने एक अलग तरह के सोने को खोद निकाला और जमा किया था जिसे न कोई चोर चुरा सकता था और न आग पिघला सकती थी।

लेकिन उस समय भारत में शायद ही कोई उनका कद सही सही माप सकता था हालांकि उनमें गोखले की रुचि के कारण मुंबई में उनका हार्दिक स्वागत हुआ। न ही वे अपने भारत को उसकी तरह जानते थे। इसलिए उन्होंने अपने 'राजनीतिक गुरु' गोखले से फौरन वादा कर लिया कि वे भारत में अपना पहला साल 'कान खुले और मुंह बंद रखकर' यहां की दशाओं का अध्ययन करते हुए गुजारेंगे।

राजकोट और पोरबंदर में अपने संबंधियों से एक संक्षिप्त मुलाकात के बाद गांधी जी आतुरता से शांतिनिकेतन पहुंचे जो बंगाल में रवींद्रनाथ ठाकुर का आश्रम-विद्यालय था। यहां उनके फोनिक्स के कुछ शिष्यों और सहकर्मियों को, जो उनसे पहले भारत पहुंच चुके थे, अस्थायी आश्रय दिया गया था।

अजीब बात यह है कि आधुनिक भारत के इन दो महान प्रतिनिधियों के बीच संपर्कसूत्र का काम एक अंग्रेज चार्ल्स फ्रीयर एंड्रयूज ने किया। इनमें एक संन्यासी तो दूसरा गायक था, ओर वे बाहरी बातों में उतने ही भिन्न थे जितने भावनाओं में समान थे। गुरुदेव के लिए सुंदर सत्य का एक पक्ष था जबकि गांधी जी सत्य के अलावा किसी सुंदर की कामना नहीं करते थे। प्रत्येक दूसरे को समझता था, और भेद था तो बुनियादी बातों पर नहीं बल्कि केवल ब्यौरों पर। गुरुदेव गांधी जी को महात्मा कहनेवाले पहले उल्लेखनीय भारतीय थे; यह संबोधन फिर उनके

हमेशा के लिए जुड़ गया।

गांधी जी ने अपने लिए शांतिनिकेतन में किए गए स्वागत समारोह को 'सादगी, कला और प्रेम का एक सुंदर समन्वय' जाना। वे वहां केवल एक सप्ताह ठहरे मगर इस यात्रा की अनश्वर सुगंध आज तक बाकी है। देखते ही देखते उन्होंने अध्यापकों और छात्रों के दिल जीत लिए और उनको अपने इस विचार का पक्षधर बना लिया कि हमें सारा काम अपने हाथों से करना चाहिए। इसलिए वेतनभोगी रसोइए हटा दिए गए, तथा अध्यापक और छात्र खाना पकाने और सफाई का सारा काम खुद करने लगे। उनमें गुरुदेव के एक और अंग्रेज दोस्त पियर्सन सबसे उत्साही थे। शांतिनिकेतन रातोंरात फोनिक्स बन गया हालांकि वह पूरी तरह फोनिक्स के समान भी नहीं बना। कारण कि अगर एक दस्ता बर्तन धोता था तो दूसरा दस्ता 'काम की नीरसता को दूर करने के लिए' उनके वास्ते सितार बजाता था।

जब महाकवि को इस 'क्रांति' की खबर मिली तो वे मुस्कुरा उठे और बोले : 'स्वराज की कुंजी इसी प्रयोग में है।' लेकिन उनकी मुस्कान मनोविनोद और संशय से भरी थी। क्या इस उत्साह को जन्म देनेवाला जादूगर उनके बीच से हट जाए तो यह ठहर पाएगा ? यह उत्साह ठहरा तो नहीं ही, और रसोइए वापस अपने काम पर आ गए। लेकिन आज तक एक प्रतीक कायम है। हर साल मार्च में शांतिनिकेतन के वासी गांधी दिवस मनाते हैं, जब रसोइयों और दूसरे सेवाकर्मियों को छुट्टी दे दी जाती है तथा छात्र और अध्यापक सारा काम खुद करते हैं।

शांतिनिकेतन में गांधी जी का वास गोखले की मृत्यु के आकस्मिक समाचार से समाप्त हो गया। वे जल्दी से पूना पहुंचे और वहां उन्होंने भारत सेवक समाज में शामिल होने की पेशकश की जिसे गोखले ने स्थापित किया था। लेकिन उन्होंने पाया कि अनेक सदस्य उनके मूलगामी विचारों और उनके राजनीतिक आंदोलन के तरीके के प्रति अविश्वासी थे। इसलिए उन्होंने समाज को किसी उलझन का शिकार होने से बचाने के लिए अपनी सदस्यता का प्रार्थनापत्र वापस ले लिया। उन्होंने अपने लाक्षणिक ढंग से खुद से यही कहा कि 'प्रार्थनापत्र को वापस लेकर मैं सही अर्थों में समाज का सदस्य बन गया।'

गोखले को दिए गए वचन का पालन करते हुए गांधी जी ने पूरा वर्ष आंखें और कान खुले रखकर विभिन्न स्थानों की यात्रा करने तथा खुद की दशाओं को देखने में गुजारा। हरिद्वार के पवित्र कुंभ मेले की यात्रा में वे यात्रियों की 'विचारहीनता, मिथ्याचरण और उनकी धार्मिकता के फूहड़पन' से और अधिक परिचित हुए। धर्म के नाम पर जारी दुष्टता और धोखाधड़ी को देखकर वे क्षुब्ध हो उठे और रात भर बैठकर यही सोचते रहे कि दूसरों के इस पाप के प्रायश्चित के लिए उन्हें क्या करना चाहिए और उन्हें अपने को किस आत्मनिषेध का दंड देना चाहिए। उन्होंने यह संकल्प लिया कि किसी भी दिन भोजन में पांच से अधिक

वस्तुएं नहीं लेंगे (अगर कभी कोई दवा लेनी पड़े तो वह भी उनमें शामिल होगी) और कभी अंधकार होने के बाद भोजन नहीं करेंगे।

उनकी दृष्टि में इस संकल्प का एक अतिरिक्त लाभ भी था कि उनके भावी मेजबान उनकी खातिरदारी के लिए फिजूलखर्ची करने की जरूरत से बच जाएंगे। वे कलकत्ता की हाल की यात्रा में हुई उलझन को भूले नहीं थे। यह उलझन उन्हें यह जानकर हुई थी कि वे जिस घर में ठहरे थे वहां की स्त्रियों को पूरी रात बैठकर गरियां तोड़ने और फल छीलने का काम करना पड़ा था।

साल भर की घुमक्कड़ी के बाद, अपने फोनिक्स के साथियों के लिए एक स्थायी आवास बनाने की चिंता से ग्रस्त होकर गांधी जी ने अहमदाबाद के बाहर अपना ठिकाना बनाया। पहले वे कोचराब में रहे और फिर साबरमती नदी के तट पर चले गए। यहां उन्होंने एक आश्रम बनाया जिसे उन्होंने सत्याग्रह आश्रम का नाम दिया। इसके निवासियों में सभी आयु-वर्गो के स्त्री-पुरुष थे जिनकी संख्या लगभग पच्चीस थी। उन्होंने सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अचौर्य, असंग्रह, इंद्रियनिग्रह और जनसेवा के प्रति पूर्ण समर्पण के व्रत लिए। अगर कभी कोई देशभक्त मठ रहा हो तो यह वही था।

अहमदाबाद कपड़ा उद्योग का एक महत्वपूर्ण केंद्र है और उसके अनेक धनी नागरिकों ने गांधी जी से वहीं अपना आश्रम बनाने का आग्रह किया था। उन्होंने वादा किया था कि वे आश्रम के खर्च के लिए दान देंगे। मशीनों पर आधारित उद्योग के इस गढ़ में ही अपने हाथ कताई का झंडा बुलंद करने की चुनौती एक अतिरिक्त आकर्षण थी। लेकिन जिस जहाज के कप्तान गांधी जी थे उसके लिए यात्रा कोई आसान नहीं हो सकती थी। जैसे ही उन्होंने एक 'अछूत' परिवार को आश्रम में रखा, विद्रोह हो गया। दान मिलने बंद हो गए।

इससे भी अधिक कष्टकर उनके आश्रम के कुछ घनिष्ठ सहयोगियों का रवैया था जिन्होंने अपने बीच 'अछूतों' की मौजूदगी को झेलने से इनकार कर दिया। यहां तक कि दक्षिण अफ्रीका में अनेक 'छूतों' को झेल चुकीं कस्तूरबा ने भी नए निवासियों से संपर्क रखने से मना कर दिया। लेकिन गांधी जी अडिग रहे। उन्होंने आपत्ति करनेवाले सभी लोगों से कहा कि वे उन्हें छोड़ दें। उन्होंने खुद 'अछूतों' की गंदी बस्तियों में जाकर रहने और उनके साथ अपनी रोजी कमाने की पेशकश की। इस तरह तूफान टल गया।

भारत में गांधी जी ने पहला सार्वजनिक भाषण फरवरी 1916 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के उद्घाटन समारोह में दिया। यह समारोह भारी शान-शौकत से भरा हुआ था और इसमें वायसराय, अनेक राजाओं और बड़े लोगों ने भाग लिया

था। अंग्रेजी में बोलते हुए उन्होंने अपने 'गहरे अपमान और लज्जा के भाव' को व्यक्त किया था कि मजबूर होकर 'मुझे अपने देशवासियों को ऐसी भाषा में संबोधित करना पड़ रहा है जो मेरे लिए विदेशी है।' विशिष्टजन की यह सभा तब उलझन में पड़कर उबल पड़ी जब उन्होंने सोने-हीरे से लदे राजाओं की ओर मुड़कर आगे कहा : 'भारत को तब तक मुक्ति नहीं मिलेगी जब तक आप अपने ये आभूषण नहीं उतार देते और इसे अपने भारतीय देशवासियों की सेवा के लिए नहीं सौंप देते।' अनेक राजा-महाराजा गुस्से में आकर बाहर चले गए।

एक वर्ष के स्वघोषित प्रतिबंध के बाद अब उन्हें फट पड़ने की आजादी थी और वे फट पड़े।

भारत में पूर्वाभ्यास

गांधी जी न किसी लड़ाई के लिए कुलबुला रहे थे और न नेतृत्व पाने के लिए जोड़तोड़ कर रहे थे। उसके पहले, उस समय या बाद में भी उन्होंने इनमें से किसी की कामना नहीं की थी। लेकिन किसी न किसी कारण से उन्हें लड़ाई और नेतृत्व, दोनों सामने मौजूद मिलते थे। ये दोनों दो दशक से अधिक समय पहले दक्षिण अफ्रीका में मिले थे और अब भारत में मिल रहे थे। भाग्य ने दोनों के लिए उनको चुन रखा था और इनसे उनको मुक्ति नहीं मिलनी थी।

वे अभी दशाओं पर निगाह रखे हुए थे, देश की राजनीतिक स्थिति का लेखाजोखा कर रहे थे और अपने आश्रम की देखभाल कर रहे थे कि उन्होंने खुद को भारत में अपने सविनय अवज्ञा के पहले प्रयास या पूर्वाभ्यास में रत पाया। (इसी को वे सत्याग्रह कहना अधिक पसंद करते थे।)

यह घटना बिहार के एक जिले चंपारण की है जहां वे 1917 में एक गरीब किसान के लगातार प्रार्थना करने पर गए थे। उसने उनसे प्रार्थना की थी कि वे इस क्षेत्र का दौरा करें और अपनी आंखों से उन किसानों की दुर्दशा देखें जिनको यूरोपीय निलहे (प्लांटर) मजबूर करते थे कि वे अपनी जमीन के एक निर्धारित भाग पर नील की खेती करें और एक निर्धारित दाम पर उनको अपनी फसल बेचें जो हमेशा ही किसानों के लिए घाटे का कारण होता था। कानून द्वारा पुष्ट और डंडे के बल पर लागू होनेवाली यह व्यवस्था दुष्टतापूर्ण और मनमानी थी, और किसान उसके बोझ तले कराह रहे थे।

उसके पहले गांधी जी ने कभी चंपारण के बारे में सुना तक नहीं था और उनको एहसास तक नहीं था कि नील के बागान कैसे होते हैं। लेकिन जब वे उन किसानों से मिले और उनकी कहानियां सुनीं तो उनको पता चल गया कि उनका फौरी काम उन्हीं के बीच है।

यह खबर जंगल के आग की तरह फैल गई कि इस दुष्टता की जांच-पड़ताल के लिए एक महात्माजी आए हैं। हजारों किसान अपने अपने गांव छोड़कर जहां गांधी जी ठहरे थे वहां उनके दर्शन करने और उनको अपने दुख सुनाने के लिए जमा हो गए। निहित स्वार्थ फौरन चौकन्ने हो गए और पुलिस सुपरिंटेंडेंट ने गांधी

जी को जिला छोड़ने का आदेश किया। आदेश मानने से गांधी जी के इनकार करने पर उसने उन्हें अगले दिन अदालत में पेश होने के लिए कहा। हजारों किसान गांधी जी के पीछे पीछे अदालत तक गए। उलझन में पड़कर मजिस्ट्रेट ने मुकदमा मुल्तवी कर दिया और मुल्जिम को बेजमानत रिहा कर दिया क्योंकि गांधी जी ने जमानत देने से इनकार कर दिया था।

मुकदमा बाद में खारिज हो गया। गांधी जी ने अपनी जांच-पड़ताल जारी रखी। जांच-पड़ताल करने के साथ साथ उन्होंने किसानों को सत्याग्रह के सिद्धांतों की शिक्षा भी दी। उन्होंने किसानों को समझाया कि केवल भय से मुक्ति ही वह चबूतरा है जिस पर स्वतंत्रता का महल खड़ा किया जा सकता है। उन्होंने निरक्षर किसानों को स्वास्थ्य रक्षा के आरंभिक सिद्धांतों की शिक्षा देने और उनके बच्चों के लिए विद्यालय चलाने के वास्ते स्वयंसेवकों को संगठित किया। एक साथ दो मोर्चे जारी रखना गांधीवादी रणनीति की विशेषता थी—एक मोर्चा बाहर के अन्याय के खिलाफ और एक मोर्चा अंदर के अज्ञान और असहाय-भाव के खिलाफ। आजाद होने के लिए आदमी को अपने पांव पर खड़े होना सीखना होगा। जहां उन्होंने उनको अपने अधिकारों के लिए लड़ने का साहस प्रदान किया वहीं अपने कर्तव्यों का पालन करना भी सिखाया।

लेकिन वे जनता के बीच जितना अधिक काम करते थे, अधिकारीगण उतने ही उलझन और हताशा के शिकार होते थे। आखिरकार उन्हें मजबूर होकर एक जांच आयोग बिठाना पड़ा जिसमें गांधी जी भी सदस्य थे। इस आयोग की रिपोर्ट एकमत पर आधारित थी और लगानदार किसानों के पक्ष में जाती थी हालांकि अपने विपक्षी से आगे बढ़कर मिलने के लिए तैयार रहने वाले गांधी जी निलहों को भी एक छोटी-सी रियायत देने पर तैयार हो गए। आयोग का एक सदस्य सर जार्ज रेनी अपना पक्ष विश्वासोत्पादक ढंग से प्रस्तुत करने और बिना किसी पूर्वाग्रह के अपने विरोधी के पक्ष को भी समझने के प्रति गांधी जी की दोधारी योग्यता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने टिप्पणी की : 'श्रीगांधी मुझे संत पॉल की याद दिलाते हैं।'

चंपारण का काम अभी मुश्किल से ही खत्म हुआ था कि गांधी जी को अहमदाबाद के कपड़ा मजदूरों की एक फौरी अपील पर वापस साबरमती आश्रम भागना पड़ा क्योंकि मिलमालिकों के साथ इन मजदूरों के विवाद ने गंभीर मोड़ ले लिया था। जब उन्हें संतोष हो गया कि मजदूरों की मांगें वैध थीं और विवाद में मध्यस्थता से मिलमालिकों का इनकार अनुचित था तो गांधी जी ने मजदूरों को हड़ताल की सलाह दी, लेकिन तभी जब उन्होंने संघर्ष को अहिंसक ढंग से चलाने का संकल्प कर लिया। वे खुशी से तैयार हो गए।

लेकिन कोई दो सप्ताह के बाद मजदूरों का उत्साह लड़खड़ाने और मनोबल

गिरने लगा। गांधी जी को डर था कि उनमें से कुछ प्रण को भंग करके हिंसा का संहारा भी ले सकते हैं। चूंकि मजदूरों को भुखमरी का भय ही हताश कर रहा था, इसलिए गांधी जी ने स्वयं को भूखा रखने का निश्चय किया। उन्होंने ऐलान किया कि जब तक कोई समझौता नहीं होता, वे भोजन को स्पर्श नहीं करेंगे।

मजदूर स्तब्ध रह गए। उन्होंने कहा, 'आप नहीं, हम भूखे रहेंगे।' लेकिन गांधी जी ने उनको भूखा नहीं रहने दिया और कहा कि वे अगर अहिंसा के व्रत पर अडिग रहे तो उन्हें संतोष रहेगा। मिलमालिक तो और भी हक्काबक्का रह गए। दो पाटों के बीच फंसकर वे नैतिक रूप से भयभीत हो उठे। तीन दिनों के बाद दोनों पक्ष आम खुशी के बीच मध्यस्थता पर सहमत हो गए।

यह व्रत गांधी जी को हमेशा ही एक नैतिक दुविधा से निकलने में सहायता देता था। यह उन्हें असहाय-भाव से मुक्ति दिलाता था जिसे वे हमेशा ही असह्य महसूस करते थे। खुद मोल लिया हुआ कष्ट उनको आध्यात्मिक आनंद दिलाता था। लेकिन यह दूसरे पक्ष को उसकी अपनी ही नैतिक दुविधा में फंसा देता था। वह व्रत निश्चित ही दिलों को छूता और कभी कभी पिघला देता था जैसा कि दूसरों के लिए हंसकर कष्ट सहे जाने का दृश्य करता है, लेकिन उसका प्रभाव एक सीमा तक बाध्यतामूलक भी होता था। बलप्रयोग अगर पशुबल से नहीं, प्रेम से लागू किया जाए तो भी वह बलप्रयोग ही होता है।

इस परीक्षा के लगभग फौरन बाद गुजरात के खेड़ा जिले में किसानों के हंगामे की खबर आई। 'मेरे भाग्य में सांस लेने की भी फुरसत नहीं थी', ऐसा गांधी जी ने आगे चलकर कहा था। बड़े पैमाने पर फसलों की तबाही के कारण किसान भुखमरी के कगार पर पहुंच चुके थे, लेकिन अधिकारीगण अपने हिस्से का गोश्त काटने पर अड़े हुए थे। गांधी जी ने सविनय प्रतिरोध की सलाह दी और बेहतरहाल और गरीब, सभी किसानों को यह व्रत लेने पर तैयार किया कि जब तक कर चुकाने में असमर्थ लोगों को कर की माफी नहीं दी जाती, वे कोई कर नहीं चुकाएंगे।

कर न देने का यह अभियान कोई चार माह चला जिसके बाद सरकार को अक्ल आई और उसने गरीब किसानों का कर-निर्धारण रोक दिया। हमेशा ही की तरह यहां भी एक समझौते पर अंत हुआ। लेकिन गांधी जी को खुशी इस तथ्य से मिली कि किसानों ने खुद अपने अनुभव से जान लिया था कि 'जनता की मुक्ति उसके अपने ऊपर, उनकी कष्ट सहने और बलिदान देने की क्षमता पर निर्भर होती है।'

इस बीच यूरोप में महायुद्ध जारी था और एक संकट आसन्न दिखाई देता था। इसका नतीजा एक ऐसा घटनाक्रम था जो पश्चिम के शांति-समर्थकों को आज भी हैरान करता है। 1918 के आरंभ में जब जर्मन हमले का डर था, वायसराय

लार्ड चेम्सफोर्ड ने दिल्ली में एक युद्ध सम्मेलन का आयोजन किया। इसका उद्देश्य सैनिकों की भरती में तेजी लाने के लिए भारतीय नेताओं का समर्थन पाना था। गांधी जी निमंत्रित किए गए। चंपारण और खेड़ा के बावजूद उनका अभी भी यही विश्वास था कि ब्रिटिश साम्राज्य अधिकतर एक शुभ शक्ति है और ब्रिटिश संबंधों के कारण कुल मिलाकर भारत का भला ही हुआ है। इसलिए उन्होंने निमंत्रण स्वीकार किया और इस प्रस्ताव का समर्थन किया कि साम्राज्य के संकट की घड़ी में उसकी सहायता करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य था। उन्होंने कुछ और भी किया। उन्होंने साम्राज्यी सेना के 'एक भरती करानेवाले सार्जेंट' के रूप में सचमुच प्रचारकार्य किया।

पिछले अवसरों पर उन्होंने एंबुलेंस कार्प्स का गठन करके संकटग्रस्त साम्राज्य की सहायता की थी। लेकिन अबकी बार उन्होंने मारने और मरने के लिए लोगों को भरती किया। उन्हें पता था कि उनका प्रचार जनता में कम ही उत्साह जगाता था। वास्तव में जिस खेड़ा जिले में उन्होंने हाल ही में कर-बंदी अभियान का नेतृत्व किया था और जहां वे जननायक समझे जाते थे, उसी खेड़ा जिले में जब वे 'भरती करानेवाले सार्जेंट' के रूप में गए तो शायद ही किसी ने उनका स्वागत किया या उनकी बात सुनी। लेकिन गांधी जी जिस कार्य को उसके अंतर्तत्व के आधार पर उचित समझते थे, उसे करने से जनसमर्थन का अभाव उन्हें कभी नहीं रोक सका।

इस दृष्टांत में औचित्य का आधार यह विश्वास था कि उनके देशवासियों की आभासी शांतिप्रियता अहिंसा में उनकी साहसपूर्ण आस्था के कारण नहीं थी बल्कि लड़ाई से उनके कायरतापूर्ण भय का नतीजा थी। जैसा कि उन्होंने अपने पुराने मित्र पोलक को लिखा था : 'आप मेरे भरती अभियान के बारे में क्या कहते हैं ? मेरे लिए यह अहिंसा के पवित्र सिद्धांत के हित में शुरू की गई एक धार्मिक गतिविधि है। मैंने यह खोज की है कि भारत अपनी लड़ने की प्रवृत्ति को नहीं, उसकी शक्ति को ही खो बैठा है। उसे पहले इस शक्ति को पाना होगा और फिर अगर वह चाहे तो पीड़ा से कराहती दुनिया को अहिंसा का संदेश दे। उसे अपनी कमजोरी का नहीं, अपनी शक्ति का भरपूर दान करना चाहिए। संभव है, वह ऐसा कभी न करे। यह मेरे लिए उसके विनाश का पर्याय होगा। वह अपनी विशिष्टता खो देगा ओर दूसरे राष्ट्रों की तरह पशुबल का उपासक बन जाएगा। भरती कराने का यह काम अभी तक मेरे द्वारा किया गया शायद सबसे कठिन काम है।'

उनके स्वास्थ्य के लिए तो यह काम निश्चित ही सबसे कठिन साबित हुआ। उनका स्वास्थ्य लगभग पूरी तरह नष्ट हो गया और वे मौत के दरवाजे तक पहुंच गए। एक समय उन्हें विश्वास हो चला था कि वे जिंदा नहीं बचेंगे और उन्होंने निराश होकर अपने आसपास के लोगों से कहा था कि 'उनका पूरा जीवन ऐसा रहा है कि उन्होंने कुछ काम हाथ में लिए, उनको आधा किया और अब वे जा

रहे हैं; लेकिन अगर यही ईश्वर की इच्छा है तो कोई चारा भी नहीं है।'

यही लंबी अस्वस्थता थी जिसके दौरान उनकी पत्नी ने उनको बकरी का दूध पीने पर राजी किया। इससे पहले वे दूध को पूरी तरह त्याग चुके थे। इसका आंशिक कारण उनका यह विश्वास था कि पशुओं से प्राप्त कोई भी वस्तु मनुष्य के लिए प्राकृतिक खाद्य नहीं हो सकती। लेकिन इसका मुख्य कारण यह था कि असहाय गायों और भैंसों से दूध की आखिरी बूंद तक दूह निकाल लेने के लिए भारत के कुछ ग्वाले जिन निर्मम उपायों का सहारा लेते थे उनके बारे में उनको बताया गया था। इसलिए जब डाक्टरों ने उनके दूध लेने पर जोर दिया और उन्होंने अपने पिछले प्रण के कारण अपनी असमर्थता जताई तो कस्तूरबा ने (अब कस्तूरबाई इसी नाम से जानी जाती थी) कहा कि उनका प्रण केवल गाय और भैंस के दूध को लेकर था। गांधी जी शरीर से भले ही बहुत कमजोर रहे हों, उनका मन बहुत सचेत था और वे इतना तो समझ ही सकते थे कि यह अंतर औपचारिक रूप से चाहे जितना वैध हो, बाल की खाल निकालने से शायद ही बेहतर था। 'तो भी यह सब जानते हुए भी मैंने बकरी का दूध लेना स्वीकार कर लिया', उन्होंने आगे चलकर लिखा। 'जीवन की इच्छा सत्य के प्रति निष्ठा से अधिक शक्तिशाली निकली, और सत्य के इस पुजारी ने एक बार सत्याग्रह के संघर्ष को चलाने के बारे में अपनी आतुरता के कारण अपने पवित्र आदर्श के बारे में समझौता कर लिया।'

तूफानों की सवारी

लड़ाई अब सचमुच दूर नहीं थी। आनेवाले तूफान की सनसनाहट सुनाई दे रही थी। युद्ध में ब्रिटेन की विजय ने यह आशा जगा दी थी कि भारत में शासन-व्यवस्था को उदार बनाया जाएगा। यही आशा थी जिसके चलते गांधी जी ने युद्ध-प्रयासों में सहायता देने की अपील अपने देशवासियों से की थी। उन्होंने 1918 में वायसराय को लिखा : 'हमारा समर्पण वह है जो एक बेहतर भविष्य की आशा पर आधारित है।' इसकी बजाय जनता को सरकार से उपहार मिला तो रौलट कानून का जो उनकी नागरिक स्वाधीनताओं में बुरी तरह कटौती करता था और एक अनुत्तरदायी कार्यकारिणी को लोगों को गिरफ्तारी और मुकदमा चलाए बिना जेल की सजा देने के मनमाने अधिकार देता था।

हमेशा की तरह यह चुनौती भी बेहतरीन टानिक साबित हुई। उसने गांधी जी की तात्कालिक निराशा को भगा दिया, उनकी जीवन की इच्छा को जगाया और अभी वे स्वास्थ्यलाभ कर ही रहे थे कि उनको रणभूमि में लाकर खड़ा कर दिया।

वे दिल्ली आए और लेजिस्लेटिव काउंसिल में उन्होंने विधेयक पर हुई बहस को सुना। यही एक मौका था जब उन्होंने किसी विधायिका की बैठक को देखा था। उन्होंने भारतीय नेताओं के भावपूर्ण भाषण सुने जो सरकार से इस निकृष्ट और भयानक कदम को वापस लेने की मांग कर रहे थे और वहां मौजूद वायसराय को चेतावनी दे रहे थे कि अगर जनता के प्रतिनिधियों के एकजुट विरोध के बावजूद यह मनमाना कानून पारित हुआ तो इसके भयानक परिणाम होंगे। यह देखकर कि वायसराय 'मंत्रमुग्ध होकर सुन रहा था', एक पल को गांधी जी ने भी सोचा कि वह कही गई बातों से विचलित हुए बिना नहीं रह सकता क्योंकि वे थीं ही इतनी सच्ची और विश्वासोत्पादक। 'लेकिन,' उन्होंने बाद में महसूस किया : 'आप किसी व्यक्ति को तभी जगा सकते हैं जब वह सचमुच सो रहा हो; आप चाहे जितनी कोशिश कर लें, अगर वह सोने का केवल दिखावा कर रहा है तो उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।'

गांधी जी को सक्रिय भारतीय राजनीति के तूफान की सवारी करने के लिए रौलट विधेयक ने ही मजबूर किया। 1919 से लेकर 1948 में अपनी मृत्यु तक

वे भारतीय रंगमंच के केंद्र में रहे और उस महान ऐतिहासिक नाटक के प्रमुख नायक रहे जिसका समापन देश की स्वाधीनता के साथ हुआ। उन्होंने भारत के राजनीतिक परिदृश्य का पूरा चरित्र बदल डाला। वे स्वयं नहीं बदले। उनके कद और आकार में वृद्धि मात्र हुई। लड़ाई के शोरगुल में भी वे वही रहे जो वे बुनियादी तौर पर थे, अर्थात एक ईश्वरभीरु मनुष्य।

रौलट विधेयक कोई स्थानीय मुद्दा नहीं था और इसके खिलाफ राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष छेड़ना जरूरी था। इसलिए गांधी जी ने इस पर गहरा मनन किया कि इसका क्या रूप होना चाहिए। इससे पहले उन्होंने एक सत्याग्रह सभा बनाई थी और एक अहिंसा का व्रत निश्चित किया था जिस पर सभी सदस्यों को हस्ताक्षर करने थे। लेकिन वही काफी नहीं था। उन्हें जनता को मुंबई या दिल्ली में ही नहीं, पूरे देश में अवज्ञा के लिए जनता को जगाना था और फिर भी उसके आवेश को हिंसा में बदलने से बचाना था। विदेश से लौटने के बाद उन्होंने बड़े पैमाने पर उत्तर भारत का दौरा किया था। दक्षिण को अपना बनाने का काम अभी बाकी था। इसलिए अब वे दक्षिण भारत की यात्रा पर निकल पड़े।

इसी यात्रा के दौरान राजगोपालाचारी से उनका परिचय हुआ जो राष्ट्रीय संघर्ष में उनके सबसे समर्पित और विश्वस्त सहयोगियों में एक बन गए। वे राजाजी के यहां ठहरे (राजगोपालाचारी बाद में जनता में इसी नाम से लोकप्रिय हुए।) एक रात जब गांधी जी सत्याग्रह आंदोलन की रूपरेखा पर गहरा मनन करते हुए सो गए कि 'गोया सपने में' उन्हें एक विचार आया कि उनको पहले कदम के रूप में पूरे देश से एक आम हड़ताल करने यानी सारे सामान्य कार्यकलाप रोक देने का और 'उस दिन को व्रत और प्रार्थना के दिन के रूप में मनाने को' आह्वान करना चाहिए।

इसी के अनुसार 30 मार्च 1919 को हड़ताल का दिन घोषित किया गया जिसे बाद में बदलकर 6 अप्रैल कर दिया गया। इस परिवर्तन से थोड़ा-सा भ्रम भी फैला। दिल्ली में 30 मार्च को हड़ताल रही तो शेष भारत ने 6 अप्रैल को हड़ताल रखी। लेकिन दिल्ली में और अन्य स्थानों पर भी यह दिन ऐसे अभूतपूर्व जन-उत्साह के साथ मनाया गया कि खुद गांधी जी आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने महसूस नहीं किया था कि भारतीय जनता के लिए उनके व्यक्तित्व का कितना नाटकीय आकर्षण था। सरकार ने साम्राज्य के भूतपूर्व 'भरती सार्जेंट' को विद्रोही बनते देखा तो उसकी आत्मतुष्टि को गहरा धक्का पहुंचा।

जब यह दिन मनाया गया तो गांधी जी मुंबई में थे जहां उन्होंने खुद इस कार्यक्रम का संचालन किया। दो गुजराती पुस्तकों अर्थात **हिंद स्वराज** और रस्किन के **अनटू दिस लास्ट** के गुजराती भावानुवाद पर पहले से लगे प्रतिबंध का उल्लंघन करते हुए उनको खुले-आम बेचना भी इस कार्यक्रम का एक अंग था। सरकार ने

बुद्धिमता दिखाई और इस बिक्री में इस सुविधाजनक आधार पर हस्तक्षेप नहीं किया कि प्रतिबंध मूल संस्करण पर था, पुनर्मुद्रण पर नहीं।

अगले रोज गांधी जी दिल्ली के लिए चल पड़े जहां पहले, 30 मार्च को हुए प्रदर्शन को सरकार ने सख्ती से, बेगुनाह प्रदर्शनकारियों पर बेतौर गोली बरसाकर कुचल दिया था। लेकिन दिल्ली पहुंचने से पहले ही गांधी जी को रास्ते के एक स्टेशन पर रोक दिया गया और उनको आगे न जाने का नोटिस थमा दिया गया। आदेश मानने से इनकार करने पर गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया और वापस मुंबई लाकर छोड़ दिया गया। इस बीच उनकी गिरफ्तारी की खबर जंगल की आग की तरह फैल गई और उसने अनेक शहरों में जनता में भारी उत्तेजना पैदा कर दी जिससे हिंसा की छिटपुट घटनाएं भी हुईं।

जब गांधी जी को इस हिंसा की बात पता चली तो वे भयभीत हो उठे। उन्हें लगा कि 'मेरे शरीर में कटार की धार भी शायद ही मुझे इससे अधिक पीड़ा पहुंचाती।' जनता को जब सत्याग्रह का पर्याप्त प्रशिक्षण नहीं मिला था तब भी उन्होंने यह मान लिया था कि वह सत्याग्रह के लिए तैयार थी—यह उनकी 'हिमालय जितनी बड़ी भूल' थी जिसके लिए उन्होंने सार्वजनिक रूप से स्वयं को दोषी ठहराया। इस कारण उन्होंने प्रायश्चित स्वरूप तीन दिन का व्रत रखा और सत्याग्रह आंदोलन को स्थगित कर दिया।

यह 13 अप्रैल 1919 की बात है जिस दिन गांधी जी ने एक उत्तेजित भीड़ के छिटपुट भटकाव के प्रायश्चितस्वरूप इस दंड की घोषणा की और उसी दिन अमृतसर में ब्रिटिश सैनिकों का नेतृत्व कर रहे जनरल डायर ने स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों की एक निहत्थी भीड़ के कत्ले-आम का आदेश दिया जो हिंदू नववर्ष के पर्व पर जलियानवाला बाग में जमा हुए थे। इस बाग का केवल एक दरवाजा था जहां डायर ने अपने सैनिकों और बंदूकों को तैनात कर रखा था। दीवारें इतनी ऊंची थीं कि लोग उन पर चढ़ नहीं सकते थे। यह चूहेदानी में फंसे चूहों को गोली मारने के समान था। सरकार की आधिकारिक रिपोर्ट में 400 के मरने और 1000 से 2000 लोगों के घायल होने की बात स्वीकार की गई थी हालांकि स्वयं गांधी जी द्वारा की गई सार्वजनिक जांच के अनुसार 1,200 मरे और 3,600 घायल हुए थे।

बेगुनाहों के इस कायरतापूर्ण कत्ले-आम के बाद पंजाब में मार्शल ला लगा दिया गया। मनमानी गिरफ्तारियां, लोगों पर सार्वजनिक रूप से कोड़े बरसाना और एक खास गली में सभी भारतीयों को कीड़ों की तरह पेट के बल रेंगकर चलने का अमानवीय आदेश देना इसी मनहूस सिलसिले की कड़ियां थीं। सर बैलेंताइन शिरोल ने उस दिन को 'ब्रिटिश भारत के इतिहास का काला दिन' कहा था और उस दिन की घटनाएं भारत-ब्रिटेन संबंधों के इतिहास का मोड़ साबित हुईं। उसने

ब्रिटिश राज की बुनियाद में पहली भयानक दरार डाली। देखने में चट्टान की तरह मजबूत साम्राज्य फिर कभी वैसा शक्तिशाली नहीं रहा। ब्रिटेन की नैतिक प्रतिष्ठा को ऐसा धक्का लगा कि 28 वर्ष बाद भारत का नियंत्रण खो बैठने तक साम्राज्य उस धक्के से कभी उबर नहीं पाया।

यह गांधी जी की अपनी खास विशेषता थी कि पंजाब की त्रासद घटनाओं पर उनकी पीड़ा चाहे जितनी अधिक रही हो, उन्होंने उतने ही सरोकार के साथ तुर्की के पराजित सुलतान के भाग्य पर भारतीय मुसलमानों के दुख को भी अपनाया; यह सुलतान खलीफा यानी इस्लाम का धार्मिक प्रमुख भी था। वास्तव में यही मुद्दा था जिस पर उन्होंने पहली बार अपने देशवासियों का, हिंदू-मुसलमान दोनों का आह्वान किया कि वे ब्रिटिश सरकार से असहयोग करें।

रौलट कानून और प्रजा के अत्याचार, पराजित तुर्क साम्राज्य के विभाजन से बिलकुल अलग प्रश्न थे। इसलिए उस समय भी गांधी जी के अनेक प्रशंसकों ने एक राष्ट्रीय संघर्ष में दोनों प्रश्नों के समन्वय की नैतिक वैधता पर आपत्तियां की थीं। कुछ ने तो यहां तक महसूस किया कि तुर्की का सुलतान सिद्धांततया भले ही धार्मिक नेता हो, वास्तव में एक पतनशील और निरंकुश साम्राज्य का प्रतिक्रियावादी प्रतीक था और अरब जनगणों को उसके शासन से भले के लिए ही मुक्ति मिली थी। लेकिन गांधी जी इस प्रश्न को अलग ढंग से देख रहे थे। उनके लिए यह मुस्लिम भाइयों की संकट की घड़ी में उनके साथ हिंदुओं के खड़े होने का प्रश्न था। उन्होंने जोर देकर कहा : 'उनके दुख हमारे दुख हैं।'

महान जन-उभार

भारी उत्तेजनाओं के बावजूद अंग्रेजों के इरादों में गांधी जी का विश्वास अभी तक पूरी तरह हिला नहीं था। बहुत बाद में चलकर, 1919 के अंत में भी उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को सम्राट की इस घोषणा का स्वागत करने की राय दी थी कि महामहिम सुधार कानून पर अपनी सहमति देंगे और सच्चे सहयोग की भावना से नए संवैधानिक प्रयोग को व्यवहार का समुचित अवसर दिया जाएगा। जब वे अमृतसर के उत्तेजित प्रतिनिधियों से मिले जहां हवा में अभी भी अंग्रेजों के पिछले जुल्मों की बू बसी हुई थी, तो उन्होंने चेताया : 'मैं कहता हूं, पागलपन का जवाब पागलपन से मत दीजिए बल्कि पागलपन का जवाब होशमंदी से दीजिए, और फिर पूरी स्थिति आपके काबू में होगी।'

लेकिन उनकी आस्था निरंतर समाप्त होती जा रही थी। उन्होंने देखा कि पंजाब के अत्याचारों के बाद भूल-सुधार करने की बजाय ब्रिटिश सरकार अपने जिम्मेदार अफसरों की अपराधी करतूतों पर पर्दा डालने के लिए उतारु थी। ब्रिटिश जनता के औचित्य और निर्दयता से घृणा की सहजवृत्ति में गांधी जी की आस्था और भी अधिक थी और वे बर्क की इस चेतावनी पर ध्यान नहीं देते थे कि महान साम्राज्य और क्षुद्र मन साथ साथ नहीं चलते। लेकिन उन्होंने देखा कि उसी ब्रिटिश जनता ने जनरल डायर को अच्छी-खासी रकम की भेंट देने के लिए धन जुटाया था। यह सब देखकर गांधी जी की आस्था चूर चूर हो गई। जिस साम्राज्य को उन्होंने अभी तक अधिकतर एक कृपाकारी व्यवस्था समझा था वही अब एक मनहूस और घृणित चेहरा लेकर सामने आ चुकी थी। ऐसे 'शैतानी' शासन से असहयोग करना प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य था।

उनका हमेशा से यही विश्वास रहा था कि मनुष्यों की तरह राष्ट्र भी अपनी खुद की कमजोरी के कारण आजादी खोते हैं। उन्होंने 1909 में **हिंद स्वराज** में लिखा था : 'अंग्रेजों ने भारत को नहीं पाया है; हमने उनको दिया है। वे भारत में अपनी ताकत के बल पर नहीं हैं बल्कि हमने उनको रखा हुआ है।' इसका लाजिमी नतीजा यह निकलता है कि भारतीय जनता इतने वर्षों से स्वेच्छापूर्वक और चुप साधकर जो सहयोग देती आ रही थी अगर उसे देना बंद कर दे तो साम्राज्य

का भहराकर गिरना अनिवार्य है।

उन्होंने खिलाफत समिति और राष्ट्रीय कांग्रेस, दोनों को तैयार कर लिया कि वे भारत में ब्रिटिश सरकार के साथ अहिंसक असहयोग के प्रति उनके कार्यक्रम को स्वीकार करें। चूंकि विदेशी सरकार पूरी तरह एक अशुभ सत्ता थी, इसलिए उसके अंतर्गत विकसित सभी संस्थाएं भी कलंकपूर्ण थीं। उन सबका बहिष्कार होना चाहिए। सरकारी कर्मचारियों को अपने पदों से त्यागपत्र देना चाहिए, वकीलों को अदालतों का बहिष्कार करना चाहिए, छात्रों को स्कूल और कालेज छोड़ने चाहिए, हरेक को विदेशी वस्तुओं और खासकर कपड़ों का प्रयोग बंद करना चाहिए, और सभी को जनता के समर्पित सेवक और स्वेच्छा से स्वाधीनता के अहिंसक सिपाही बनना चाहिए।

यह कार्यक्रम अव्यावहारिक होने की सीमा तक आदर्शवादी लगता था, और पहले से सक्रिय अनेक गंभीर और अनुभवी राजनीतिज्ञ इसे सुनकर मुस्कुराने लगे या उन्होंने खुलकर इसका मजाक उड़ाया। लेकिन गांधी जी के आह्वान ने जादू की छड़ी का काम किया और उसने जनता में अभूतपूर्व उत्साह का तूफान पैदा कर दिया। यह भी एक दिलचस्प बात है कि सिर्फ चार साल पहले जब उन्होंने कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में भाग लिया था तब उन्होंने भागीदार से अधिक प्रेक्षक का व्यवहार किया था और वे जवाहरलाल नहेरू को 'बहुत दूर स्थिति और भिन्न और अराजनीतिक' लगे थे। अब वे ही मैदान पर छाए हुए थे और उन्होंने राष्ट्रीय कांग्रेस को लगभग पूरी तरह बदलकर रख दिया था। उन्होंने महज बातें करनेवाले राजनीतिज्ञों को सक्रिय सिपाही और समाज के अंग्रेजी रंग में रंगे नेताओं को सफेद खद्दरधारी जनसेवक बना दिया था।

इसके बाद गांधी जी निरंतर बुद्धिजीवियों और जनता के बीच की खाई को पाटते चले गए और उन्होंने स्वराज्य की धारणा को इतना व्यापक बना दिया कि सामाजिक और नैतिक पुनरुत्थान का लगभग हर पहलू उसमें सिमट आता था। ताज्जुब नहीं कि उनकी जीवनगाथा देखेन में गूंगी-बहरी, निष्क्रिय और हताश जनता द्वारा अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए लड़ने और उसे जीतने की गाथा है।

यह बात भी महत्वपूर्ण है कि उनकी आत्मकथा उनके महात्मा और जनता के निर्विवाद नेता बनने के साथ ही समाप्त हो जाती है। उसके बाद उनका जीवन एक खुली किताब रहा। उनकी हर अदा, हर काम जनता के सामने रहा और उन्होंने खुद भी अपने विचारों को जनता के साथ उन दो साप्ताहिक पत्रों के स्तंभों के माध्यम से बांटा जिनको वे संपादित करते थे। ये थे अंग्रेजी में **यंग इंडिया** और गुजराती में **नवजीवन**।

हमेशा की तरह इस बार भी उन्होंने अभियान का आरंभ सरकार को पेशगी नोटिस देकर किया। साम्राज्य की सेवा में अपने मानवतावादी कामों के लिए उनको

ब्रिटिश सरकार से जो तमगे और खिताब मिले थे, उनको लौटाते हुए उन्होंने वायसराय को पत्र लिखा : 'मैं एसी सरकार के प्रति न अपने सम्मानभाव को और न ही अपने प्रेम को सुरक्षित रख सकता हूं जो अपनी अनैतिकता को उचित ठहराने के लिए एक पर एक कुकर्म करती चली आ रही है।' उनकी मिसाल का अनुकरण करते हुए अनेक हिंदुस्तानियों ने अपने तमगे और खिताब लौटा दिए। (जलियानवाला बाग के नरसंहार के विरोध में रवींद्रनाथ ठाकुर पहले ही अपनी नाइट की पदवी छोड़ चुके थे।) वकीलों ने वकालत छोड़ दी, छात्रों ने स्कूल और कालिज छोड़ दिए और शहरों में पले-बढ़े हजारों नौजवान 'शैतानी' सरकार से अहिंसक असहयोग के संदेश का प्रचार करने के लिए गांवों की धूल फांकने लगे।

सदियों से सोई पड़ी जनता अपनी मानवीय गरिमा की नई चेतना से प्रफुल्लित होकर, साहस और बलिदान की भावना से भरकर जाग उठी। नगरों,कस्बों और गांवों की गलियों में, चौराहों पर विदेशी कपड़े की होलियां जलने लगीं, और हजारों घरों में यज्ञ के मंत्र की तरह चरखे की गूंज उठने लगी। सदियों से चारदीवारी के अंदर ही घरेलू दुनिया में कैद स्त्रियां पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर सड़कों पर निकल पड़ीं और इसी प्रसंग में उन्होंने सदियों पुराने बंधनों से खुद को मुक्त करा लिया।

अनेक लोगों ने गांधी जी के इस गर्व-भरे आश्वासन का मजाक उड़ाया था कि स्वराज्य एक साल में पा लिया जाएगा। उन्होंने शायद नहीं समझा था कि गांधी जी के लिए भय से मुक्ति ही स्वराज्य की आत्मा थी। और यह लक्ष्य सचमुच एक वर्ष के अंदर प्राप्त हुआ। अपने तूफानी दौरों के बीच एक पर एक भाषण देकर, अपने दो साप्ताहिक पत्रों पर लेख पर लेख लिखकर गांधी जी ने अपने भावोद्‌गारों को व्यक्त किया। उनकी सधी हुई और जोशीली गद्य-रचनाएं एक ऐसी आग से भरी थीं जो पास-दूर के स्त्री पुरुषों को उसी प्रकार खींच रही थी जैसे पतंगे जलती लौ की तरफ खिंचते हैं। हजारों लोग जेलों में ठूंस दिए गए। इससे भी कई गुना अब जेल जाने के लिए तैयार थे जो अब सम्मान का प्रतीक बन चुका था।

28 दिसंबर 1921 को कांग्रेस के अहमदाबाद अधिवेशन में भाषण देते हुए गांधी जी ने कहा था : 'मैं शांति का पुजारी हूं। मैं शांति में विश्वास रखता हूं। लेकिन मैं हर कीमत पर शांति नहीं चाहता। मैं वह शांति नहीं चाहता जो आपको पत्थर में दिखाई देती है; मैं वह शांति नहीं चाहता जो आपको कब्रिस्तान में दिखाई देती है...।' युद्ध के लिए महात्मा के आह्वान से पैदा उत्साह और साहस इस कदर अधिक थे कि हाल ही में भारत लौटे डब्ल्यू. डब्ल्यू. पियर्सन ने लिखा : 'आपका काम रंग ले आया है क्योंकि भारत पहले ही आजाद हो चुका है।' गांधी जी का कथन था कि हम ज्यों ही स्वाधीनता की कीमत चुकाने को तैयार होते हैं, वह हमारी होती है।

यह एक तूफानी दौर था जब गांधी जी एक क्रांतिकारी उत्साह की लहर पर सवार थे जो उनके लिए धर्मयुद्ध समान था। लेकिन इसी काल में गुरुदेव रवींद्रनाथ के साथ उनका पहला बड़ा सार्वजनिक विवाद असहयोग के आह्वान के निहितार्थों को लेकर हुआ। इस विवाद का बड़ा सुंदर और विस्तृत वर्णन रोम्यां रोलां ने महात्मा की छोटी-सी जीवनी में प्रस्तुत किया है। महाकवि ने गांधी जी के अंदर भी एक कवि को जागृत कर दिया था जिनका भावपूर्ण उत्तर आज भी उनकी आस्था का एक उदात्ततम दस्तावेज है। यह विवाद, बशर्ते इसे विवाद कह सकें, इतनी ऊंचाई तक पहुंचा कि आधुनिक भारत की ये दो महान विभूतियां एक स्तर पर परस्पर बंधु दिखाई देती थीं, उस स्तर पर जो उनके प्रशंसकों के दिल-दिमाग से बहुत ऊपर था। वास्तव में क्षितिज पर गांधी जी के उभरने से बहुत पहले ही गुरुदेव ने अपनी अनेक कविताओं और नाटकों में किसी गांधी के उदय का स्वागत किया था। जलियानवाला बाग के कत्ले-आम से एक दिन पहले, 12 अप्रैल 1919 को उन्होंने एक खुली चिट्ठी लिखकर गांधी जी को 'महात्माजी' और ऐसा 'महान जननायक' कहा था जो संकट की घड़ी में जनता के सामने उपस्थित हुआ था। संयुक्त राज्य अमरीका में एक अमरीकी पत्रकार से असहयोग आंदोलन पर बातचीत करते हुए गुरुदेव ने कहा था : 'सौभाग्य की बात है कि इस आंदोलन का नेतृत्व गांधी जैसा एक व्यक्ति कर रहा है जो अपने संत-समान जीवन के कारण पूरे भारत में पूजा जाता है। जब तक वे शीर्ष पर हैं, मैं जहाज के बारे में भयभीत या मंजिल पर उसके सुरक्षित पहुंचने के बारे में शंकित नहीं हूं।'

दूसरे छोर पर

गांधी जी उत्साह से भरे हुए थे। लगता था अहिंसा का जादू वह चमत्कार दिखा रहा था जिसकी वे आशा करते थे और जिसका दावा करते थे। लेकिन एकाएक स्थिति बदल गई। फरवरी 1922 में उत्तर भारत के आज के उत्तरप्रदेश में चौरीचौरा नामक स्थान पर जनता हिंसा पर उतर आई। गुस्से में भरी भीड़ ने एक पुलिस चौकी में आग लगा दी थी और अंदर फंसे अनेक कांस्टेबुल जल मरे थे। गांधी जी को अवर्णनीय धक्का लगा और उन्होंने अपने लगभग सभी सहयोगियों की सलाह के खिलाफ जाकर असहयोग आंदोलन को स्थगित कर दिया। उन्होंने स्वीकार किया 'लगभग समूचे आक्रामक कार्यक्रम की एकाएक वापसी राजनीतिक दृष्टि से अगंभीर और अविवेकपूर्ण हो सकती है।' लेकिन उन्होंने आगे कहा : 'इसमें कोई शक नहीं कि यह धार्मिक दृष्टि से गंभीर है और मैं शंकालुओं को यह आश्वासन देने का साहस करता हूं कि मेरी विनम्रता और गलती की स्वीकृति से देश का भला ही होगा।'

पूरे जोश से चल रहे इस आंदोलन के एकाएक वापस लिए जाने से देश को लाभ हुआ या नहीं, ब्रिटिश सरकार को कार्यनीतिक लाभ अवश्य प्राप्त हुआ। इस प्रतिकर्ष ने जनता के उत्साह पर पानी फेर दिया और अपने नेता की राजनीतिक बुद्धिमता में उनके विश्वास को हिला दिया। लेकिन गांधी जी ऐसे विचारों से अप्रभावित रहे। उन्होंने कहा : 'सत्य और अहिंसा वह एकमात्र सद्‌गुण है जिसका मैं दावा करना चाहता हूं। मैं परामानवीय शक्तियों का कोई दावा नहीं करता। मैं ऐसी कोई शक्ति चाहता भी नहीं। मैं भी उसी प्रकार नश्वर हाड़-मांस का बना हूं जिससे मेरा कमजोर से कमजोर साथी बना है और इसलिए मैं भी उसी तरह गलती कर सकता हूं जैसे कोई और कर सकता है।'

इस घटना पर रोम्यां रोलां की टीका उस फ्रांसीसी आदर्शवादी के ही अनुरूप थी : 'मानवता की नैतिक प्रगति के इतिहास में इतने सुंदर पृष्ठ शायद ही हों। ऐसी किसी क्रिया का नैतिक मूल्य अतुलनीय है, लेकिन राजनीतिक कदम के रूप में यह हताशाजनक था।'

और हताशाजनक वह सचमुच था। कम से कम उस वक्त यही लगता था।

इस प्रतिकर्ष को सरकार ने एक सुनहरा अवसर समझा। 10 मार्च 1922 को शाम को बहुत देरी से, 10 बजे गांधी जी गिरफ्तार कर लिए गए जब अहमदाबाद की जनता शायद बिस्तर में होगी। उनकी प्रतिक्रिया भारी राहत और प्रसन्नता की थी। गांधी जी खुशी से झूम उठे : 'अहा, कितनी खुशी का दिन है ! जो हुआ है सचमुच बेहतरीन ही हुआ है; सचमुच बेहतरीन हुआ है।'

मुकदमे के दौरान गांधी जी ने, जैसा कि वे करते आए थे, अपना राजद्रोह का अपराध कुबूल कर लिया। उन्होंने अदालत में ऐसा बयान दिया जो अपने ढंग का शास्त्रीय भाषण बन चुका है। उन्होंने अपने पिछले जीवन की तथा ब्रिटिश साम्राज्य के एक निष्ठावान भक्त से एक पश्चातापरहित विद्रोही में अपने रूपांतरण की समीक्षा की और ब्रिटिश न्यायाधीश आर.एस. ब्रूमफील्ड से कहा :

'मैं अभी हाल में इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि ब्रिटिश संबंधों ने राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भारत को पहले किसी भी समय की अपेक्षा कमजोर बनाया है। निहत्थे भारत में किसी हमलावर के मुकाबले की कोई ताकत नहीं है...वह इतना गरीब बन चुका है कि अकालों के मुकाबले की कम ही ताकत रखता है...नगरवासी शायद ही जानते हों कि भारत की अधभूखी जनता किस तरह धीरे धीरे जीवन-हीनता के दलदल में फंसती जा रही है। शायद ही वे जानते हों कि उनकी टुच्ची-सी आराम की जिंदगी उस दलाली की सूचक है जो वे विदेशी शोषकों के लिए काम करके पाते हैं, कि मुनाफे और दलाली की रकमें जनता से चूसी जाती हैं। शायद ही वे यह महसूस करते हों कि ब्रिटिश भारत में कानून द्वारा स्थापित सरकार जनता के इसी शोषण के लिए चलाई जा रही है। अनेक गांवों में हड्डियों के जो ढांचे नंगी आंखों को दिखाई देते हैं उनके प्रमाण को कोई लफ्फाजी, आंकड़ों की कोई भी बाजीगरी मिटा नहीं सकती। मुझे इसमें कोई शक नहीं कि अगर ऊपर कोई ईश्वर है तो इंग्लैंड को और साथ ही भारत के नगरवासियों को भी इस अपराध के लिए जवाब देना होगा जो इतिहास में शायद बेमिसाल है।'

गांधी जी ने यह माना कि कुछ इक्का-दुक्का ब्रिटिश प्रशासक और उनके भारतीय सहयोगी ईमानदारी से विश्वास करते थे कि वे शासन की बेहतरीन प्रणालियों में से एक का संचालन कर रहे हैं। उन्होंने न्यायाधीश को आश्वासन दिया : 'मेरे मन में किसी एक भी प्रशासक के खिलाफ कोई व्यक्तिगत दुर्भावना नहीं है और सम्राट के प्रति असंतोष तो मैं और भी कम दिखा सकता हूं।' फिर उन्होंने आगे कहा : 'लेकिन मैं उस सरकार के प्रति असंतुष्ट होना एक पुण्य मानता हूं जिसने पहले की किसी भी व्यवस्था के मुकाबले कुल मिलाकर भारत को अधिक हानि पहुंचाई है...इसलिए मैं यहां खड़ा हूं कि जिसे कानून एक जानबूझकर किया गया अपराध मानता है और जिसे मैं एक नागरिक का सर्वोच्च कर्तव्य मानता हूं उसे करने के बदले में मैं सबसे कठोर दंड मांगूं और उसे हंसी-खुशी स्वीकार करूं।'

न्यायाधीश ने उन्हें छह साल की सादी कैद की सजा दी और फिर विनम्रता और गरिमा के साथ निजी तौर पर उनकी प्रशंसा की। उसने कहा : 'अगर भारत के घटनाक्रम के कारण सरकार के लिए आपकी कैद को कम करना और आपको रिहा करना संभव हुआ तो कोई भी दूसरा व्यक्ति मेरे जितना प्रसन्न नहीं होगा।'

जेलखाना गांधी जी के लिए दंड होने की जगह आराम, स्वास्थ्यलाभ और अवकाश का स्थान था। 'आखिरकार मुझे अब शांति से दिन गुजारना नसीब हुआ है,' उन्होंने सी.एफ. एंड्रयूज को लिखा। एक और पत्र-लेखक को उन्होंने लिखा : 'फिलहाल तो मैं अपने स्वतंत्रता-गृह में आनंद मना रहा हूं।' अब वे प्रार्थना, अध्ययन और कताई पर अधिक समय दे सकते थे। लेकिन इस 'पूर्ण शांति' का लंबे समय तक उपयोग करना उनको नहीं बदा था।

जनवरी 1924 में एपेंडिसाइटिस के एक फौरी आपरेशन के लिए उन्हें पूना के एक अस्पताल में पहुंचा दिया गया। यह आपरेशन एक ब्रिटिश सर्जन कर्नल मैडाक ने किया था और गांधी जी ने अपने अत्यंत सम्मानित देशवासी श्रीनिवास शास्त्री की मौजूदगी में एक लिखित वक्तव्य में कर्नल मैडाक में पूरा विश्वास व्यक्त किया था। गोखले के बाद भारत सेवक समाज की अध्यक्षता श्रीनिवास शास्त्री ने ही संभाली थी। उन्होंने शास्त्री जी को लिखा था : 'सरकार से तो मेरा गहरा झगड़ा है मगर मैं अंग्रेजों से प्रेम करता हूं और उनमें कई एक मेरे दोस्त हैं।'

जिस समय आपरेशन थियेटर तैयार किया जा रहा था, शास्त्री जी ने अपने को मरीज के साथ अकेला पाया। तब उन्होंने जनता और देश के नाम संदेश देने के लिए गांधी जी पर दबाव डाला। लेकिन गांधी जी ने कोई संदेश देने से इनकार कर दिया। बोले कि 'वे सरकार के कैदी थे और उनको ईमानदारी के साथ कैदी के सम्मान के नियमों का पालन करना चाहिए।' जल्द ही वे आपरेशन थियेटर में पहुंचा दिए गए। शास्त्री जी कहते हैं : 'मैं बाहर बैठा था और साधारण मानव की प्रकृति से कहीं बहुत अलग किस्म की विशाल हृदयता, क्षमा, शौर्य और प्रेम का जो प्रदर्शन मैंने देखा था उस पर हैरान हो रहा था; यह भी कि असहयोग आंदोलन को ऐसी व्यापक दृष्टिवाले और सम्मान के प्रति इतने संवेदनशील नेता का मिलना कितने बड़े सौभाग्य की बात थी।'

गांधी जी अभी स्वास्थ्यलाभ कर रहे थे कि सरकार ने उनको रिहा कर दिया। एक आजाद इंसान के तौर पर उन्होंने अपने देश की जो हालत देखी उससे वे बहुत दुखी हुए। सिर्फ दो साल हुए थे कि देश में देशभक्तिपूर्ण और आदर्शवादी उभार की एक लहर दौड़ी थी जिसने हिंदुओं और मुसलमानों को इतना एकजुट किया था जैसे वे पहले कभी नहीं हुए थे। अब कहां थी वह लहर ? क्या हो गया था उस एकता को ? उसकी जगह अब हर जगह थी अफरातफरी, निराशा और सनकीपन। हिंदू और मुसलमान अलग हो गए थे। कारण कि इस बीच कमाल

अतातुर्क के नेतृत्व में तुर्कों ने खुद ही खिलाफत को खत्म कर दिया था और उसकी रक्षा के बारे में भारतीय मुसलमानों के जेहाद का आधार ही समाप्त हो गया था। मुसलमानों को अब हिंदुओं के समर्थन की जरूरत नहीं थी और अंग्रेजों के खिलाफ उनकी चिढ़ की धार कुंद हो गई थी। काइयां शासकों के उकसावे में आकर दोनों समुदायों ने एक दूसरे में अविश्वास करना सीख लिया था। अनेक जगहों पर सांप्रदायिक दंगे फूट पड़े थे।

गांधी जी यह नहीं जानते थे कि कुंठा की इस लहर को कैसे रोका जाए। उन्होंने एक बार फिर अपने देशवासियों के पापों के प्रायश्चित के लिए इक्कीस दिनों का व्रत आरंभ किया। व्रत की घोषणा करते हुए उन्होंने कहा था : 'लगता है कि ईश्वर अब सिंहासन से च्युत हो चुका है। आइए, हम उसे अपने हृदय में फिर विराजमान करें।' पहले अपने अनेक व्रतों में से एक को भंग करने के बाद उन्होंने अपना पाप स्वीकार किया था : 'मैं इतना मनुष्य अवश्य हूं कि दूसरों के दुखों से विचलित हुए बिना नहीं रह सकता, और जब मैं उनको दूर करने की कोई दवा नहीं पाता तो मेरी मानवीय प्रकृति मुझे इतना झिंझोड़ती है कि मैं लंबे समय से बिछड़े एक प्यारे दोस्त की तरह मौत को गले लगाने के लिए व्याकुल हो उठता हूं।'

हमेशा की तरह इस व्रत का भी प्रभाव पड़ा। बहुतों ने अपने दिल टटोलने शुरू कर दिए और अभी ज्यादा समय नहीं गुजरा था कि दोनों समुदायों के नेताओं की तरफ से भाईचारे के संकल्प के पत्र उन्हें मिलने लगे। दिल्ली में एक एकता सम्मेलन आयोजित किया गया और अनेक सुहृद प्रस्ताव स्वीकार किए गए। लेकिन भावुकता के उद्‌गारों में पैदा हुई सदिच्छा जल्द ही समाप्त भी हो जाती है। हुआ भी यही। इसके चलते गांधी जी चिंताओं में डूब गए।

ईंट-दर-ईंट

एक अप्रशिक्षित अनुयायी दल किस आसानी से महज एक भीड़ बनकर रह जाता है, इसे गांधी जी ने बड़े कष्ट के साथ देखा। हथियारों से लैस एक परंपरागत सेना की अपेक्षा एक अहिंसक सेना के लिए और अधिक अनुशासन तथा पहलकदमी की, और अधिक प्रशिक्षण की जरूरत थी। इसलिए जबकि राजनीतिज्ञ तर्क-वितर्क, आंदोलन और खींचतान में लगे थे, उस समय गांधी जी सिपाहियों के एक दस्ते को प्रशिक्षण देने पर ध्यान दे रहे थे। वे उन्हें भारत के सात लाख गांवों में प्रवेश करना, वहां विदेशी या देशी, राजनीतिक या आर्थिक निरंकुश्ता और शोषण के खिलाफ नैतिक और आर्थिक बाधाएं खड़ी करना सिखा रहे थे। वे जमीन तैयार करने और ईंट-दर-ईंट ढांचा खड़ा करने के प्रयास कर रहे थे।

अगले पांच वर्षों में गांधी जी देखने में सक्रिय आंदोलनकारी राजनीति से अलग रहे और जिसे वे बुनियादी राष्ट्रीय आवश्यकता, आजादी की सच्ची बुनियाद समझते थे उसके प्रचार-प्रसार में रत रहे। गांवों की जनता तक इसी का संदेश तो पहुंचाना था। इनमें अन्य बातों के साथ हिंदू-मुस्लिम एकता, छुआछूत का उन्मूलन, स्त्रियों के समान अधिकार और ग्रामीण व्यवस्था की पुनर्स्थापना या पुनर्रचना के विषय भी शामिल थे। अंतिम प्रश्न में हाथ से सूत कातने पर खासतौर पर जोर दिया जाता था ताकि अधिकतम लोगों को रोजगार दिया जा सके। उन्होंने कहा था : 'मैं केवल भारत को अंग्रेजी जुए से मुक्ति दिलाने में दिलचस्पी नहीं रखता। मैं भारत को हर प्रकार के जुए से मुक्ति दिलाने के लिए कटिबद्ध हूं।' राजनीतिक स्वाधीनता तथा सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के इन दो आंदोलनों का इस प्रकार समन्वय आवश्यक था कि वे साथ साथ चल सकें।

कांग्रेस की कतारों में भी विभाजन हो चुका था। एक तरफ स्वराज्यवादी थे जिनका नेतृत्व मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास जैसे संविधान के धुरंधर विद्वान कर रहे थे। ये लोग सुधार कानून के अंतर्गत स्थापित नई विधायिकाओं के अंदर जाकर संघर्ष चलाना चाहते थे। दूसरी तरफ परिवर्तन-विरोधी (नो चेंजर्स) थे जो जंगल में भी महात्मा के पीछे पीछे चलने के लिए तैयार थे। कांग्रेस की कतारों में स्थायी दरार पैदा न करने या स्वराज्यवादियों की राहों में बाधा न बनने के लिए

गांधी जी स्वेच्छा से सक्रिय राजनीतिक मंच से अलग हो गए जो अब वाक्‌युद्धों का अखाड़ा बन चुका था। वे कानूनी झगड़ों और शब्दिक अग्निवर्षा में दिलचस्पी नहीं रखते थे। वे इस अवकाश को पाकर प्रसन्न थे क्योंकि उन्होंने 1909 में **हिंद स्वराज** में जिन विचारों को इतनी अपरिपक्वता और आक्रामकता के साथ पेश किया था, उनको व्यावहारिक रूप देने के लिए समय की आवश्यकता थी। उस समय उन्होंने भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सुंदर गीत गाए थे, मगर खुद यह देखे बिना कि चरखा होता भला कैसा है। बाद में उन्होंने ईमानदारी से इस बात को स्वीकार किया था।

लेकिन उनका सहजज्ञान ठोस था और आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की प्रमुख बीमारियों के बारे में उनका अंतःदृष्टिपूर्ण निदान गलतियों से परे था, भले ही उन्होंने अपनी बात कितने ही असंतुलित ढंग से रखी हो। उस समय उन्होंने बेसोचे-समझे और बादशाहाना ढंग से समस्त विज्ञान और मशीनी सभ्यता को रद्द कर दिया था, संसदीय लोकतंत्र का मखौल उड़ाया था और ब्रिटिश संसद को 'एक बांझ और एक वेश्या' कहा था। बरसों बाद उन्होंने जोर देकर कहा था कि वे तब कही गई एक एक बात पर कायम हैं और 'एक शब्द को छोड़कर उसमें से किसी भी बात को नहीं छोड़ेंगे, और वह भी एक महिला मित्र का सम्मान करते हुए।' (उनका इशारा संभवतया वेश्या शब्द के प्रयोग की ओर था।) लेकिन वास्तव में वे पहले के अनम्य बल्कि लगभग कट्टर विचारों से बहुत दूर तक आगे बढ़े थे। मिसाल के लिए उन्होंने इस बीच भारत के लिए एक संसदीय लोकतंत्र व्यवस्था की पैरवी की थी, विज्ञान में इतनी आस्था का प्रदर्शन किया था कि एक ब्रिटिश सर्जन से आपरेशन भी कराया था, और गृहिणियों के भारी और नीरस काम को कम करनेवाली सिंगर सिलाई मशीन की खूब प्रशंसा की थी।

वे किसी समय विशेष में जो प्रश्न उठाते थे उसके बारे में वे एक जन्मजात और साथ ही प्रशिक्षित वकील की भी हैसियत रखते थे। इसलिए जब 1924 में उनसे प्रश्न किया गया कि क्या वे सारी मशीनों के खिलाफ थे तो उन्होंने जवाब दिया था : "कैसे मैं इनका विरोध कर सकता हूं जबकि मुझे पता है कि यह शरीर भी एक बहुत नाजुक यंत्र है ? चरखा भी मशीन है और एक छोटी-सी दंतखोदनी भी मशीन है। मैं आपत्ति करता हूं तो स्वयं मशीनों पर नहीं, मशीनों के प्रति पागलपन पर।" यह पागलपन उनके शब्दों में श्रम बचानेवाली मशीनों को लेकर है। "लोग 'श्रम बचाते' रहते हैं और आखिरकार हजारों बेरोजगार हो जाते हैं और भूखों मरने के लिए सड़कों पर फेंक दिए जाते हैं। मैं मानवता के एक भाग के लिए नहीं बल्कि सबके लिए समय और श्रम की बचत करना चाहता हूं। मैं कुछेक नहीं, सबके हाथों में दौलत को केंद्रित होते देखना चाहता हूं। आज मशीनें केवल कुछ की सहायता करती हैं कि वे लाखों की पीठ पर सवारी कर सकें।"

ऐसे सार्वभौम मानववाद की पैरवी का कौन विरोध कर सकता है ? यही बात उनकी ईश्वरीय धारणा के साथ थी। जब उन्होंने पाया कि ईश्वर को सत्य कहना असुविधाजनक है तो उन्होंने चुपके से इस सूत्र को उलट दिया और कहा कि सत्य ईश्वर है। इसका कोई नास्तिक भी विरोध नहीं कर सकता। गांधी जी के व्यक्तित्व की यह प्रमुख विशेषता थी कि वह सही अर्थों में रचनात्मक होने के कारण निरंतर विकासमान था, नए पहलू सामने लाता रहता था और नए आयाम ग्रहण करता रहता था। वे कभी अपने बनाए पिंजरे के कैदी नहीं बने।

इसलिए उन्होंने राजनीतिक आंदोलन के उस शोरगुल से पांच साल के अवकाश का भरपूर और रचनात्मक उपयोग किया जिसे पहले रवींद्रनाथ ठाकुर ने गाड़ी के आगे बड़े बिना उसके सीटी देने की संज्ञा दी थी।

रचनात्मक विश्रामकाल

गांधी जी में यह अद्‌भुत शक्ति थी कि वे जिस तरह बड़े से बड़े काम पर ध्यान केंद्रित करते थे उसी उत्साह से छोटी-से-छोटी बात पर भी ध्यान केंद्रित कर सकते थे। सरकारी तंत्र को चरमरा देने के लिए एक राष्ट्रीय आंदोलन की योजना बनाना या जैविक खादों के बेहतरीन उपयोग के बारे में प्रयोग करना—उनके लिए ये एक समान पवित्र और महत्वपूर्ण थे। वे एक जैसे आनंद से दोनों कामों का मजा लेते थे। अवकाश के ये देखने में खाली खाली दिन किसी भी तरह व्यर्थ नहीं गए। वे खामोशी और हस्तक्षेप से मुक्त गतिविधियों के दिन थे जो नाटकीय उत्तेजना से खाली अवश्य थीं मगर फिर भी भारी राष्ट्रीय उपयोगिता रखती थीं। गांधी जी फावड़े के साथ उतने ही क्रांतिकारी थे जितने तलवार के साथ।

इस काल ने अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया कि उनके बुनियादी रुझानों और विश्वासों में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं आया था; सिर्फ उनका बाहरी खुरदुरापन और घुमाव समय और अनुभव के साथ कम हो गए थे। उनका विश्वास था और यह विश्वास मरते दम तक रहा कि मनुष्य का सच्चा महत्व उसके नैतिक विकास में है, न कि मशीनी दक्षता में जो अगर नैतिक आदर्शवाद से संयमित न हो तो घातक भी बन सकती है और अंत में उसे नष्ट भी कर सकती है। सच्ची सभ्यता प्रेम, सहिष्णुता और आपसी समझ पर आधारित होती है, न कि द्वेष, शत्रुता और हिंसा पर। दूसरों को उनके अधिकारों से वंचित करके किसी वस्तु का उपभोग करना उसे उनसे चुराने के समान है और इस प्रकार यह डकैती का एक रूप है।

उनके अनुसार आदर्श राज्य और समाज वह है जिसमें सत्ता और अर्थव्यवस्था, दोनों ही कमोबेश आत्मनिर्भर ग्रामीण इकाइयों या गणराज्यों में विकेंद्रीकृत होती हैं और सभी स्त्री-पुरुष जमीन पर या किसी धंधे में अपने हाथों से काम करते हैं। गांधी जी ने दक्षिण अफ्रीका या भारत में जिन बस्तियों या आश्रमों की स्थापना की उनमें से हरेक ऐसे ही समाज का एक ढांचा खड़ा करने का प्रयोग था और उन कार्यकर्ताओं के लिए एक प्रशिक्षण-शिविर था जो इस संदेश का प्रचार करेंगे, और बदहाली और जड़ता में जकड़े भारतीय गांवों या गांधी जी

के शब्दों में 'गोबर के ढेरों' में इसे व्यावहारिक रूप देंगे।

गांधी जी की मृत्यु के बाद आल्डुअस हक्सले ने लिखा था : 'देर-सबेर यह बात महसूस की जाएगी कि इस स्वप्नदर्शी के पांव जमीन पर मजबूती से जमे हुए थे, कि यह आदर्शवादी सबसे व्यावहारिक मनुष्य था। कारण कि गांधी के सामाजिक और आर्थिक विचार मनुष्य की प्रकृति और सृष्टि में उसके स्थान की प्रकृति की एक यथार्थवादी समझ पर आधारित थे। एक तरफ उन्हें यह पता था कि विकासशील संगठन और प्रगतिशील तकनीकी की समस्त विजय इस बुनियादी सच्चाई को नहीं बदल सकती कि मनुष्य पशु है जिसका आकार कोई बहुत बड़ा नहीं है और जिसकी योग्यताएं अधिकांश दृष्टांतों में बहुत मामूली हैं। और दूसरी तरफ उन्हें यह पता था कि ये शारीरिक और बौद्धिक सीमाएं आध्यात्मिक प्रगति की लगभग असीम क्षमता के साथ साथ जारी रह सकती हैं...

'पाशविक और आध्यात्मिक की सीमारेखा पर खड़े इस उभयचर प्राणी के लिए किस प्रकार की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएं सर्वोत्तम हो सकती हैं ? इस प्रश्न का गांधी ने एक आसान और अत्यंत बुद्धिसंगत उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि मनुष्यों को अपना जीवन और कर्म ऐसे समुदायों में करना चाहिए जो उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता के अनुरूप हों, जो इतनी छोटी हों कि सच्चे स्वशासन और वैयक्तिक उत्तरदायित्व को स्वीकारना संभव हो, और जो बड़ी इकाइयों में इस प्रकार संघबद्ध हों कि विशाल शक्ति के दुरुपयोग का प्रलोभन न पैदा हो। लोकतंत्र जितना ही बड़ा होता जाता है, जनता का शासन उतना ही कम यथार्थ होता जाता है और अपने भाग्य के निर्धारण में व्यक्तियों या स्थानीय समूहों का महत्व उतना ही कम हो जाता है...

'आर्थिक विकेंद्रीकरण के साथ राजनीतिक विकेंद्रीकरण भी आवश्यक है। व्यक्तियों, परिवारों और छोटे सहकारी समूहों के पास अपने खुद के निर्वाह और स्थानीय बाजार में आपूर्ति के लिए आवश्यक भूमि और उपकरण होने चाहिए। उत्पादन के आवश्यक साधनों में गांधी केवल हाथ के औजार शामिल करना चाहते थे।'

गांधी जी के राजनीतिक जीवन का देखने में निष्क्रिय और व्यर्थ यह काल दूसरी दृष्टियों से भी उनके जीवन के सबसे फलदायक और रचनात्मक कालों में एक था। इसी अवकाश-काल के दौरान उन्होंने अपनी आत्मकथा साप्ताहिक किस्तों में लिखनी शुरू की जिसे वे **सत्य के साथ प्रयोग** कहना पसंद करते थे। ये मूल गुजराती में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए और फिर महादेव देसाई इनको दूसरों की सहायता से अंग्रेजी में अनूदित करते थे।

इसी काल में गांधी जी की एक अंग्रेज शिष्या माडेलीन स्लेड साबरमती आश्रम में आईं। ये ही भारत में मीरा बहन के नाम से अधिक लोकप्रिय हुईं। "जैसे

ही मैं अंदर पहुंची, एक छोटी-सी काली आकृति उठी और मेरी तरफ बढ़ी। मुझे-एक प्रकाश की चेतना को छोड़ किसी वस्तु की चेतना नहीं थी। मैं घुटनों पर गिर पड़ी। उन हाथों ने मुझे आहिस्ता से उठाया और एक आवाज आई, 'तुम मेरी पुत्री रहोगी।' भौतिक जगत के बारे में मेरी चेतना लौटने लगी और मैंने एक चेहरे को देखा जो प्रेम भरी आंखों से मुझे देखकर मुस्कुरा रहा था; जिनमें मनोविनोद की एक सौम्य चमक थी। हां, ये महात्मा गांधी थे, और मैं उन तक पहुंच चुकी थी।''

गांधी जी के निरंतर विकासमान विचारों पर और नई पैदा होनेवाली स्थितियों से निपटने के तरीकों पर रोशनी डालने के लिए इस अवकाश-काल की अनेक घटनाएं पर्याप्त महत्व की अधिकारी हैं। मिसाल के लिए खाज के मारे आवारा कुत्तों का मुआमला था जिनसे अहमदाबाद नगर भरा हुआ था। इस बढ़ते खतरे की स्पष्ट भयानकता और भीषणता के बावजूद जनता की रूढ़िवादी भावनाएं ऐसी थीं कि नगरपालिका के अधिकारी कुत्तों को उनके कष्ट से मुक्ति दिलाने का साहस नहीं कर पाते थे। आखिरकार प्रगतिशील नागरिकों के एक दल ने गांधी जी से मिलकर उनकी राय मांगी। उन्होंने सलाह दी कि इन दुखी प्राणियों को गोली मारकर आराम से सुला देना चाहिए। उन्हें गोली मारी गई, मगर फिर क्रुद्ध विरोध का तूफान उठ खड़ा हुआ जिसे गांधी जी ने अपने मधुर, अद्वितीय ढंग से शांत कर दिया।

एक और गंभीर परीक्षा आश्रम की एक बछड़ी के मुआमले ने ली जो बीमार और भारी कष्ट में थी। पशुचिकित्सा के सर्जन ने उसे लाइलाज बता रखा था। बछड़ी एक तरफ पड़ी थी और चलने-फिरने में असमर्थ थी। भारी होने के कारण उसे उठाना संभव नहीं था कि उसके घाव को पकने से रोका जा सके। वह कुछ खाती नहीं थी और मक्खियों ने उसे परेशान कर रखा था। इस मुआमले में सवाल गाय की पवित्रता का था जिसमें गांधी जी अपना विश्वास रखते थे। लेकिन उन्होंने अपने को तैयार किया कि सच्ची अहिंसा की मांग यही है कि 'यथासंभव कष्टहीन ढंग से बछड़ी को मरवाकर उसे उसके कष्टों से मुक्ति दिलाई जाए।' इसलिए एक डाक्टर को बुलाया गया। इस घटना की चश्मदीद गवाह मीरा बहन लिखती हैं : 'फिर बापू (आश्रमवासी और अन्य करीबी लोग गांधी जी को बापू और श्रीमती गांधी को बा कहते थे) नीचे झुके और एक क्षण के लिए बछड़ी के सामने के पैरों को धीरे से पकड़ा, सूई दे दी गई, मरोड़ हुई और बछड़ी मर गई, कोई भी नहीं बोला। बापू ने एक कपड़ा लिया, उसे बछड़ी के चेहरे पर फैला दिया और फिर खामोशी से वापस अपने कमरे में चले गए।'

इस काल में भी उन्होंने भारत में बड़े पैमाने पर यात्राएं कीं और विद्रोह का उपदेश दिया—सरकार के खिलाफ नहीं बल्कि गरीबी के खिलाफ, जहालत के

खिलाफ, छुआछूत की लानत के खिलाफ। एक सभा में उन्होंने अछूतों को सबसे अलग एक कोने में बैठे देखा तो चलकर उनके पास गए और उनके बीच ही खड़े होकर सभा को संबोधित किया। इस प्रकार उन्होंने श्रोताओं के रूढ़िवादी और 'सम्मानित' भाग को मुंहतोड़ जवाब दिया।

अभियान पर

धीरे धीरे राष्ट्र की मानसिकता में मूलगामी परिवर्तन आया। पहले वाली कुंठा की जगह लगभग आक्रामक आत्माभिमान ने ले ली। इसमें युवा आंदोलन के उदय, कृषकों के असंतोष के विस्फोट, बंगाल और पंजाब में एक ओर आतंकवादियों और दूसरी ओर मार्क्सवादियों की चुनौती, और संवैधानिक आंदोलन के बहुचर्चित स्वराज्यवादी प्रयोग की असफलता—इस सबका योगदान रहा। 1919 के सुधारों की समीक्षा के लिए जब ब्रिटिश सरकार ने एक भी भारतीय सदस्य लिए बिना साइमन आयोग का गठन किया तो देश को विशाल प्रदर्शनों के लिए एक बना-बनाया प्रोत्साहन मिल गया। 1922 के मशहूर मुकदमे में गांधी जी को छह साल की जो सजा मिली थी उसकी मुद्दत खत्म हो चुकी थी। हालांकि गांधी जी चार साल पहले ही बिना शर्त छोड़ दिए गए थे और उनकी सजा अपने-आप समाप्त हो चुकी थी मगर वे इसे अपना नैतिक दायित्व समझते थे कि बीमारी की आकस्मिक घटना से प्राप्त स्वतंत्रता का उपयोग राजनीतिक उद्देश्यों के लिए न करें।

1929 तक कांग्रेस के विभिन्न गुट फिर एक हो चुके थे। वे सक्रिय होने के लिए बेचैन थे और नेतृत्व के लिए महात्मा की ओर देख रहे थे। जब वर्ष के अंतिम दिन उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन में खुद एक प्रस्ताव लाकर पूर्ण स्वाधीनता को राष्ट्रीय नीति का लक्ष्य बताया तो स्पष्ट हो गया कि वे ब्रिटिश शासन को खुली चुनौती देने के लिए जनता का नेतृत्व करने पर फिर तैयार थे। उन्होंने पूर्ण स्वराज्य की शपथ लिखी और देश भर में करोड़ों लोगों ने 26 जनवरी 1930 को यह शपथ ली। उसी के बाद इस दिन को स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाया जाने लगा। अब सारी आंखें साबरमती की ओर देख रही थीं, अहिंसा का जादूगर अब आगे क्या करनेवाला था ?

12 मार्च 1930 को आश्रम के 78 स्त्री-पुरुषों को साथ लेकर गांधी जी ने दांडी समुद्रतट की 24 दिनों की ऐतिहासिक यात्रा शुरू की। वे उस कानून को तोड़ने जा रहे थे जो गरीब आदमी को अपना नमक बनाने के अधिकार से वंचित करता था। पहले उन्होंने अपने अभिप्राय के बारे में वायसराय को समुचित सूचना दी। वायसराय खिल्ली उड़ाने के भाव से मुस्कुराया होगा। 24 दिनों तक पैदल

चलना और समुद्र का पानी सुखाकर कच्चे नमक का छोटा-सा ढेला बनाना एक बहुत मामूली, नाटकीय और बेवकूफी भरी शेखी लगती थी। लेकिन छोटी-सी धोती पहने यह छोटा-सा आदमी एक जादूगर था जो अपनी अंतःदृष्टि से इस देखने में मामूली लगनेवाले काम के नाटकीय प्रभाव को समझ सकता था। देहाती लोग मीलों दूर से भागकर सड़क के किनारे झुककर बैठ गए कि इस निहत्थे दैवी पुरुष को सामने से गुजरते देख सकें। जनता की कल्पना उत्तेजित हो चुकी थी और अभियान समाप्त होने के समय तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक तीव्र उत्तेजना व्याप चुकी थी जैसा कि किसी भारी दुस्साहसिक कार्य के आरंभ होने के समय होता है।

6 अप्रैल को अल्लसुबह प्रार्थना के बाद गांधी जी समुद्रतट तक गए और वहां उन्होंने नमक का एक छोटा-सा ढेला उठाया जिसे पीछे हटती लहरें छोड़ गई थीं। प्रतीकात्मक अवज्ञा के इस छोटे से काम के बाद देश भर में कानून को चुनौती दी गई। स्त्री-पुरुष, युवा और वृद्ध, भोले-भाले देहाती और सुसंस्कृत नगरवासी हजारों की संख्या में गिरफ्तारी, पुलिस की मार और अनेक दृष्टांतों में गोलीबारी तक को झेलने आगे आए। कुछेक हफ्तों के अंदर कोई एक लाख स्त्री-पुरुष जेलों में बंद थे। ब्रिटिश सरकार का विशालकाय तंत्र चरमरा रहा था।

जब नवंबर 1930 में लंदन में पहला गोलमेज सम्मेलन हुआ तो लेबर सरकार को इस उलझन भरी स्थिति का सामना करना पड़ा कि वह भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गैर-मौजूदगी में भारत के 'प्रतिनिधियों' के साथ भारत की भावी संवैधानिक व्यवस्था पर विचारविमर्श कर रही थी। अनेक निहित स्वार्थों को तो आवश्यकता से अधिक प्रतिनिधित्व दिया गया था, मगर जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की बातें करनेवाला वहां कोई नहीं था। वह विसंगति इतनी स्पष्ट थी कि इसकी ओर से आंखें बंद नहीं की जा सकती थीं। 19 जनवरी 1931 को सम्मेलन के समापन-सत्र में प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनल्ड ने आशा व्यक्त की कि कांग्रेस के लिए दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेना संभव होगा। इसलिए एक सप्ताह बाद, 26 जनवरी को अर्थात स्वाधीनता के प्रथम शपथ-ग्रहण के ठीक एक साल बाद गांधी जी और उनके कुछ प्रमुख सहयोगी बेशर्त रिहा कर दिए गए।

कुछ ही समय बाद वायसराय इरविन ने गांधी जी को वार्ता के लिए आमंत्रित किया। इससे विंस्टन चर्चिल को बड़ी चिढ़ हुई। वह यह 'उबकाई लानेवाला और अपमानजनक दृश्य' देखकर जल-भुन रहा था कि 'किसी समय इनर टेंपल का यह वकील जो अब राजद्रोही फकीर था, अधनंगे होकर वायसराय के महल की सीढ़ियां चढ़ रहा था कि सम्राट के प्रतिनिधि के साथ समानता के स्तर पर समझौता-वार्ता करे।'

लेकिन जाहिर है कि लार्ड इरविन की सोच अलग थी। उसने 25 साल बाद,

जब वह लार्ड हेलीफैक्स था, इस घटना को याद करते हुए कहा था : 'मेरे पास इस अत्यंत उल्लेखनीय छोटे-से आदमी के नाम के प्रति भारी आदर और सम्मान-भाव रखने का पूरा पूरा कारण था।'

मीरा बहन ने एक दिलचस्प घटना बयान की है जो बड़े और छोटे, दोनों को एक समान महत्व देने के बारे में गांधी जी की खास विशेषता पर कुछ रोशनी डालती है। "एक अवसर पर, जबकि दोपहर का वाद-संवाद काफी लंबा खिंच चुका था, मेरे लिए संदेश आया कि मैं बापू का भोजन लेकर वायसराय के महल में जाऊं। उन दिनों बापू का मुख्य भोजन खजूर और दूध था और जिन बर्तनों में यह खाना परोसा जाता था वे जेल के मामूली बरतन थे जो गांधी जी ने यरवदा जेल छोड़ते समय यादगार के तौर पर पाए थे। मैंने जल्दी में इन चीजों को एक टोकरी में रखा और वायसराय के महल की ओर चली...वायसराय दिलचस्पी से देख रहे थे और जब बापू अपने चम्मच से खजूरों को छीलने लगे तो लार्ड इरविन ने पूछा कि वे खा क्या रहे थे। बापू ने मुस्कुराकर कहा, 'पैगंबर का भोजन', और वायसराय ने उठकर बरतन में झांका कि उनका आशय किस चीज से था। फिर बापू ने अपने तसले को चम्मच से गर्व के साथ खनखनाते हुए आगे कहा : 'और यह मेरा जेल का बरतन है'।"

पश्चिम में कुछ दिन

मार्च 1931 में गांधी-इरविन समझौते पर हस्ताक्षर किए गए और 29 अगस्त को गांधी जी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन चले। ये बीच के दिन अनिश्चय और तनाव से भरे हुए थे। कारण कि लार्ड इरविन का उत्तराधिकारी लार्ड विलिंगडन एक कट्टर टोरी था और अपने पूर्ववर्ती की कल्पनाशीलता और ईमानदारी से रहित था। जब गांधी जी डेक के यात्री के रूप में पी. एंड ओ. लाइनर पर सवार हुए तो उन्होंने कहा : 'मेरे खाली हाथ लौटने की पूरी पूरी संभावना है।'

लंदन में वे म्यूरियल लेस्टर के अतिथि के रूप में इंस्ट एंड के किंग्स्ले हाल में रुके। लंदन के गरीबों की उस बस्ती के समाजसेवा केंद्र में सुकून महसूस करते थे। यहां वे कामगारों से घिरे हुए थे जिनका दिल उन्होंने फौरन जीत लिया। उनकी अनौपचारिकता, दयालुता और हास्यप्रेम ने राष्ट्रीय और नस्ली पूर्वाग्रहों की दीवारें तोड़ डालीं। यहां तक कि उनका अपरंपरागत वस्त्र भी अब लज्जाशील स्त्रियों को धक्का नहीं पहुंचाता था। जब उनसे पूछा गया कि उन्होंने एक धोती ही क्यों चुनी तो उन्होंने जवाब दिया : 'आप लोग घन चार वस्त्र पहनते हैं, मेरे वस्त्र ऋण चार हैं।' तब तक मिनी-ड्रेस का प्रचलन नहीं हुआ था, अन्यथा उन्होंने मुस्कुराकर एक नए फैशन के आविष्कार होने का श्रेय ले लिया होता।

ब्रिटिश अधिकारियों को भारी आशंका में डालकर उन्होंने लंकाशायर का दौरा करने पर जोर दिया। भारतीयों से विदेशी कपड़ों का बहिष्कार कराने के बारे में उनके अपने अभियान ने इसी लंकाशायर में काफी बेरोजगारी पैदा कर दी थी। उन्होंने बेरोजगार मिल-मजदूरों की मुसीबतों को देखा और जो कुछ कहा गया उसे हमदर्दी के साथ सुना। उन्होंने उनसे कहा : 'आपके यहां तीस लाख बेरोजगार मिल-मजदूरों की मुसीबतों को देखा और जो कुछ कहा गया उसे हमदर्दी के साथ सुना। उन्होंने उनसे कहा : 'आपके यहां तीस लाख बेरोजगार हैं, लेकिन हमारे यहां लगभग 30 करोड़ लोग आधे साल बेरोजगार या अल्परोजगार रहते हैं। आपका औसत बेरोजगारी भत्ता 70 शिलिंग है। हमारी औसत आमदनी प्रतिमाह 7 शिलिंग और 6 पेंस है...इसलिए कल्पना कीजिए कि 30 करोड़ बेरोजगारों का होना, हर

रोज रोजगार के अभाव में कई करोड़ का पतित होते जाना, आत्मसम्मान से रहित होना, ईश्वर में आस्था खोते जाना कितनी बड़ी विपत्ति है। मैं उन तक ईश्वर का संदेश ले जाने की हिम्मत तक नहीं कर सकता...मैं उन तक रोजगार का पवित्र संदेश पहुंचाकर ही ईश्वर का संदेश पहुंचा सकता हूं। यहां उम्दा नाश्ता करके और उससे भी उम्दा भोजन की राह देखते हुए बैठकर ईश्वर की चर्चा करना अच्छी बात है, लेकिन उन लोगों से मैं ईश्वर की चर्चा कैसे करूं जो रोज दो जून का खाना तक नहीं पाते ? उनके लिए ईश्वर केवल दाल-रोटी के रूप में प्रकट होता है।'

उनकी बात सुनकर एक बेरोजगार ने कहा : 'मैं भी बेरोजगारों में एक हूं, लेकिन मैं अगर भारत में होता तो वही बात कहता जो मिस्टर गांधी कर रहे हैं।' उनके साथ गईं मीरा बहन कहती हैं कि लंकाशायर में हर जगह भीड़ गर्मजोशी और प्रशंसा के भाव से उनका स्वागत करने और उन्हें सुनने के लिए जमा होती थी।

जहां तक गांधी जी की यात्रा के राजनीतिक उद्देश्य का सवाल था, उनकी पिछली आशंका सही निकली। उन्हें 'खाली हाथ' ब्रिटेन की धरती छोड़नी पड़ी। फिर भी इंग्लैंड की जनता के साथ उनके निजी संपर्कों के आकस्मिक प्रभाव अधिकतर अच्छे परिणामों के कारण बने। पहले चार बार इंग्लैंड जा चुके मिस्टर गांधी जो युद्ध से पहले के एक अंग्रेज भद्रपुरुष के परंपरागत वस्त्रों में अर्थात एक अच्छी काट वाले सुबह के कोट और रेशमी हैट में सड़कों पर टहला करते थे, उनको अब शायद ही कोई याद करता था। अब वहां जो महात्मा या 'अधनंगा राजद्रोही फकीर' पहुंचा था वह एक दंतकथा बन चुका था और उसके बारे में कुछ अच्छी और कुछ बुरी, अजीबोगरीब कहानियां प्रचलित हो चुकी थीं। इसलिए यह अच्छा ही हुआ कि साधारण ब्रिटिश जनता ने उनके व्यक्तित्व को अपनी आंखों देखा और उसके आकर्षण को, उनकी सार्वभौम सहानुभूति को, उनके जीवंत हास्य और गुदगुदानेवाली हंसी को खुद महसूस किया।

सम्मेलन सेंट जेम्स पैलेस में हो रहा था और गांधी जी उसके सत्रों के बीच का समय चरखा कातते या लोगों से मिलते हुए नाइट्सब्रिज हाउस में बिताया करते थे। उस समय दो मूर्तिकारों ने उनके सिर का अध्ययन किया था। एक थीं विंस्टन चर्चिल की भतीजी क्लेयर शेरिडन जिन्होंने 1920 में लेनिन के सिर की मूर्ति और बाद में अपने चाचा के सिर की मूर्ति तराशी थी, और दूसरे एक अमरीकी जोए डेविडसन थे। क्लेयर शेरिडन ने अपने समकालीन तीन विभूतियों के सिरों का अध्ययन किया था, और ये वे गतिशील व्यक्तित्व थे जिन्होंने अपने अपने महाद्वीपों में इतिहास की धारा को बदल दिया था और जो एक-दूसरे से इस कदर भिन्न थे। उन्होंने इन तीनों के बारे में जो कुछ कहा है वह दिलचस्पी से खाली नहीं है :

"लेनिन और चर्चिल के मुआमलों में कपाल की संरचना में एक अजीब

समानता है : बड़े आकार के कपाल उनके मस्तिष्क के आवरण हैं और खोपड़ी के पिछले भाग में एक असामान्य सपाटपन है।

"गांधी को मैं महान समकालीनों की पहली कतार में रखती हूं, और उनकी भी तुलना लेनिन से की जा सकती है, लेकिल एक भिन्न अर्थ में, अर्थात शारीरिक या बौद्धिक की बजाय आध्यात्मिक दृष्टि से। मेरे लिए गांधी जी और लेनिन ईमानदारी और सच्चाई के प्रतीक हैं। इनमें से कोई भी व्यक्ति अपने आदर्शों से बाल बराबर भी विचलित नहीं हो सकता। लेनिन और गांधी समझौताविहीन ढंग से स्पष्टवादी थे और अपने प्रभाव के बारे में पूरी तरह उदासीन थे। उनके लिए महत्व केवल सत्य का था।

"मेरे विचार में गांधी की महानता आध्यात्मिक है और इस कारण वे आज के किसी भी व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महान, अधिक दुर्जेय हैं। उनके अंदर वह आध्यात्मिक सजगता है जिसे मानवता को विकसित करना होगा ताकि वह अपने बनाए नरक से उबर सके।

"गांधी के बारे में मेरे विचारों की पुष्टि मेरे मित्र और प्रतिद्वंद्वी अमरीकी मूर्तिकार जोए डेविडसन ने की है जो खुद भी सिर 'बटोरते' हैं। उन्होंने कहा कि जब वे 'महान विभूतियों' के करीब जाते हैं तो वे हमेशा ही क्षुद्र दिखाई देते हैं, सिवाय गांधी के जो अपनी महानता बनाए रखनेवाले एकमात्र व्यक्ति हैं।"

वापसी में पेरिस में एक रात के ठहराव और एक विशाल जनसभा के बाद गांधी जी पांच दिन विलेनावे में रोम्यां रोलां के मेहमान बनकर रहे। रोम्यां रोलां गांधी जी के दूसरे यूरोपीय जीवनीलेखक थे। उन्होंने और उनके अग्रज जोसेफ डोक, दोनों ने असामान्य अंतर्दृष्टि के साथ लिखा है। लेकिन जहां डोक ने जोहान्सबर्ग में उनके कार्यकलाप को करीब से देखा था, वहीं फ्रांसीसी लेखक ने जब अपनी छोटी-सी श्रेष्ठ रचना लिखी थी तब तक न तो गांधी जी को देखा था और न भारत की यात्रा की थी। और फिर भी उन्होंने जो समझ दिखाई वह जितनी गहरी है उतनी ही सूक्ष्म है। रोम्यां रोलां खुद भी रूसी संत तालस्ताय के भारी प्रशंसक थे। वे लिखते हैं : 'गांधी एक अधिक सौम्य, अधिक तुष्ट और अगर मैं कहने की जुर्रत करूं तो अधिक ईसाई अर्थ में एक तालस्ताय हैं क्योंकि तालस्ताय प्रकृति से उतने अधिक ईसाई नहीं हैं जितने इच्छाशक्ति से।'

अब रोलां और गांधी जी पहली बार मिले थे और हुआ ऐसा कि यह उनकी एकमात्र भेंट थी। उस फ्रांसीसी विचारक ने उस पहली मुलाकात का जो प्रेमपूर्ण और हार्दिक विवरण एक अमरीकावासी मित्र को भेजा था, वह यहां उद्धृत करने योग्य है : "चश्मा पहने और दांतों से वंचित यह छोटा-सा आदमी अपने सफेद लबादे में लिपटा हुआ था मगर उसकी बगुले जैसी पतली टांगें नंगी थीं। उसका थोड़े से अटपटे बालों वाला गंजा सिर नंगा और वर्षा से भीगा हुआ था। वह फीकी

हंसी हंसते हुए मेरे पास आया, उसका मुंह हांफते हुए प्यारे कुत्ते जैसा खुला था और उसने मेरे चारों तरफ एक बांह डालकर अपना गाल मेरे कंधे से टिका दिया। मैंने उसके धूसर सिर को अपने गालों से चिपका महसूस किया। मैं यह सोचकर प्रफुल्लित हो रहा हूं कि यह सेंट डोमिनिक और सेंट फ्रांसिस का चुंबन था।''

रोम्यां रोलां आगे कहते हैं कि ''इस मुलाकात ने हमारे दो बंगलों पर घुसपैठियों, मटरगश्तों और अधकचरों का तूफान तोड़ दिया। न-न, टेलीफोन का बजना कभी बंद नहीं हुआ। घात में लगे फोटोग्राफरों ने हर झाड़ी के पीछे से अपने पलीते छोड़े। लेमां स्थित दूधवालों के सिंडिकेट ने मुझे सूचना दी कि 'भारत के सम्राट' के साथ मेरे इस पूरे पड़ाव के दौरान वे उनके 'आहार' की पूरी जिम्मेदारी उठाने को तैयार हैं। हमें 'ईश्वरपुत्रों' की ओर से पत्र मिले। कुछ इतालवी लोगों ने महात्माजी को पत्र लिखकर प्रार्थना की कि साप्ताहिक राष्ट्रीय लाटरी की अगली निकासी के लिए वे उनको दस सौभाग्यशाली संख्याएं बतलाएं ! जिंदा बची रहकर मेरी बहन ज्यूरिख के एक स्वास्थ्यगृह में दस दिनों तक आराम करने के लिए चली गई है...जहां तक मेरा सवाल है, मैं नींद का उपहार पूरी तरह खो चुका हूं। अगर यह तुम्हें मिले तो मुझे रजिस्ट्री डाक से भेजना।''

अगर गांधी जी ऊब चुके थे तो उन्होंने इसका कोई संकेत नहीं दिया और अपने आम शाश्वत उत्साह और हास्यप्रेम के साथ अपना सारा काम निपटाते रहे। उनके मेजबान ने लिखा है : 'देखने में दुबला-पतला, यह छोटा-सा आदमी थकता नहीं है, और थकान एक ऐसा शब्द है जो उसके शब्दकोश में नहीं है।' इसी पड़ाव के दौरान लाउसान की एक सभा में गांधी जी ने कहा था कि ''पहले वे कहते थे कि 'ईश्वर सत्य है' मगर अब उन्हें विश्वास हो चला था कि 'सत्य ही ईश्वर है'। कारण कि नास्तिक भी सत्य की शक्ति की आवश्यकता में संदेह नहीं करते। सत्य की खोज की भावना में नास्तिकों ने ईश्वर के अस्तित्व को नकारने में भी संकोच नहीं किया है और वे अपने दृष्टिकोण से सही हैं।''

रोम में गांधी जी पोप से नहीं मिल सके हालांकि मुसोलिनी ने विनम्रता से उनका स्वागत किया। इससे पहले लंदन में विंस्टन चर्चिल ने उनसे मिलने से इनकार कर दिया था। लेकिन गांधी जी अविचलित रहे। वे मान-अपमान को समदर्शी की तरह लेते थे। लेकिन उन्होंने वेटिकन की यात्रा की जहां मनुष्य की ऊंचाई की एक सलीब देखकर वे गहराई से प्रभावित हुए। मीरा बहन कहती हैं : ''वे फौरन उसके पास तक गए और वहां ध्यानमग्न होकर खड़े रहे। वे फिर थोड़ा-सा इधर और उधर घूमे ताकि उसे अलग अलग कोणों से देख सकें, और अंत में उसके पीछे और दीवार तक गए जहां मुश्किल से जाने की जगह थी, और उसे पीछे से देखा। वे पूरी तरह खामोश रहे और तभी बोले जब वहां से चल पड़े और तब भी ऐसे बोले जैसे अभी भी ध्यानमग्न हों—'वह बहुत ही अद्भुत सलीब

थी'—और फिर खामोश हो गए।''

मुसोलिनी के साथ उनकी मुलाकात कैसी रही और उन्होंने उस इतालवी तानाशाह के बारे में क्या सोचा ? उससे अस्थायी रूप से प्रभावित हो जानेवाले गुरुदेव रवींद्रनाथ के विपरीत गांधी जी ने होश-हवास बनाए रखा। जब मुसोलिनी ने उनसे पूछा कि वे उसके राज्य के बारे में क्या सोचते हैं तो गांधी जी ने अगर-मगर किए बिना कहा कि वह तानाशाह रेत का महल बना रहा था। बाद में उन्होंने यरवदा जेल में लिखा था कि मुसोलिनी 'एक जल्लाद की तरह' लगता था। उन्होंने आगे लिखा था : 'संगीनों पर खड़ी कोई हुकूमत भला कब तक टिकेगी ?'

क्रिसमस के उपहार

क्रिसमस के तीन दिन बाद मुंबई पहुंचने पर गांधी जी ने कहा : 'इंग्लैंड और यूरोप में तीन माह के प्रवास के दौरान मुझे एक भी ऐसा अनुभव नहीं हुआ जो मुझे एहसास कराए कि पूरब बहरहाल पूरब है और पश्चिम पश्चिम है। इसके विपरीत मेरा यह विश्वास पहले से अधिक मजबूत हुआ कि मानव-प्रकृति चाहे जिस परिवेश में फले-फूले, वह बहुत कुछ एकसमान है, और अगर आप विश्वास और प्रेम के साथ लोगों से मिलें तो उसके बदले में आपको दसगुना अधिक विश्वास और हजारगुना अधिक प्रेम प्राप्त होगा।'

लेकिन उनको कुछ ही समय बाद जो अनुभव होनेवाला था वह शायद ही इस आशावाद को उचित ठहराता था। न ही यह पहला मौका था जब उन्होंने दुख के साथ महसूस किया था कि दक्षिण अफ्रीका या भारत का अंग्रेज इंग्लैंड के अंग्रेज से बहुत भिन्न था। उनके भारत पहुंचने से पहले ही इरविन के उत्तराधिकारी विलिंगडन के दंभी और दमनकारी शासन ने गांधी-इरविन समझौते के आधार को ही नष्ट कर दिया था। भारत में अध्यादेश-राज चल रहा था। गोलीबारियां और गिरफ्तारियां आए दिन की चीज बन चुकी थीं।

जवाहरलाल नेहरू गांधी जी के स्वागत के लिए मुंबई आ रहे थे कि रास्ते में गिरफ्तार कर लिए गए। गांधी जी की टिप्पणी थी : 'मैं समझता हूं कि ये हमारे ईसाई वायसराय लार्ड विलिंगडन से मिले क्रिसमस के उपहार हैं।' एक हफ्ते बाद गांधी जी भी गिरफ्तार कर लिए गए और बिना मुकदमा चलाए पूना की यरवदा जेल में बंद कर दिए गए।

सलाखों के पीछे इस बार 'परिंदे जैसे प्रसन्न' नहीं थे जैसा कि पिछली बार थे। कारण कि उन्हें ब्रिटिश सरकार की इस मनहूस साजिश का आभास हो चुका था कि अलग निर्वाचन मंडलों की संभावना को बढ़ाया जाए और इस प्रकार दिखावे के लिए 'अल्संख्यकों' के हितों की रक्षा के नाम पर राष्ट्र को टुकड़ों टुकड़ों में बांट दिया जाए। एक लेबर प्रधानमंत्री के सुंदर आवरण के पीछे ब्रिटिश कट्टरपंथी पहले से कहीं अधिक निष्ठुर हो चुके थे।

उनके निजी सचिव महादेव देसाई भी सौभाग्य से उनके साथ ही बंद किए

गए थे। उन्होंने अद्भुत निष्ठा के साथ गांधी जी की रोजाना की बातचीत और पत्रव्यवहार के ब्यौरे दर्ज किए हैं। ये गांधी जी के सामाजिक और नैतिक रुझानों में लगभग अगोचर ढंग से मगर निरंतर होनेवाले परिवर्तनों पर बहुत कुछ रोशनी डालते हैं। यहां कुछ प्रविष्टियां दर्ज हैं :

"मनु (गांधी जी के अब कुपथगामी हो चुके सबसे बड़े बेटे हरीलाल गांधी की बेटी) ने पत्र लिखकर बापू को सूचना दी कि किस तरह उसकी मामी बली बहन ने उसके (मनु के) निकम्मे पिता को थप्पड़ मार दिया था। बापू ने जवाब दिया कि उन्होंने सही काम किया था; उनके काम में कोई हिंसा नहीं थी बल्कि शुद्ध प्रेम था।"

"बापू केवल तिथि (हिंदू चंद्र पंचांग के दिन) लिखते थे और अगर पश्चिमी पंचांग के अनुसार कोई तारीख लिखता था तो दुखी हो जाते थे। लेकिन अब उन्होंने तिथियों को छोड़ दिया है और कहते हैं, 'पूरी दुनिया ने यूरोपीय पंचांग को स्वीकार कर लिया है और हम उससे घृणा नहीं कर सकते'।"

"परचुड़े शास्त्री (जो कुष्टरोग से पीड़ित थे) के एक पत्र में पूछा गया था कि अगर कोई व्यक्ति केवल बोझ और दुख का कारण बनकर रह जाए तो क्या उसे अपना जीवन त्यागने का अधिकार है। जवाब में बापू ने लिखा : 'इस प्रश्न पर मेरा मत इस प्रकार है। अगर कोई आदमी एक असाध्य रोग से ग्रस्त है और बदले में खुद कोई उपयोगी काम किए बिना दूसरों से प्राप्त सेवा पर जी रहा हो तो उसे अपने जीवन को त्यागने का अधिकार है। उसके लिए पानी में डूबने की बजाय मरण-व्रत रखना अधिक उत्तम होगा क्योंकि वह उसकी दृढ़ता की परीक्षा होगी और उसके लिए अपने विचार को बदलने की संभावना रखेगा'।"

मीरा बहन को एक दूसरे जेल में साधारण कैदियों के बीच रखा गया था। उनके एक पत्र के जवाब में गांधी जी ने लिखा : 'तुमने अब अपराधियों का जिक्र अपने साथियों के रूप में किया है। शब्द अपराधी हमारे शब्दकोश से निकाल दिया जाना चाहिए। अन्यथा हम सभी अपराधी हैं। तुममें से जिसने पाप न किया हो वह पहला पत्थर मारे।' और पापी वेश्या पर किसी ने पत्थर मारने का साहस नहीं किया। जैसा कि एक बार जेलर ने कहा था, सभी चुपके चुपके अपराधी होते हैं। कुछ कुछ मजाक में कह गए इस कथन में एक ठोस सत्य मौजूद है।

आगे : 'तुम्हें खुद को मुझमें या मेरी बुद्धिमता में अविश्वास के लिए इस कारण दोषी नहीं ठहराना चाहिए कि तुम फौरन मेरी किसी बात को समझ नहीं पातीं या समझने के बावजूद उससे सहमत नहीं हो सकतीं तुम मेरी गलतियों में भी हां में हां क्यों मिलाओ ? यह तो अंधी आस्था होगी।'

दिन इसी प्रकार गुजरते रहे। गांधी जी की शंकाएं अगस्त 1932 में सही साबित हुईं जब 'अछूतों' को अलग निर्वाचनमंडल देते हुए सांप्रदायिक अधिनिर्णय

घोषित किया गया। गांधी जी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर उन्हें याद दिलाया कि उन्होंने (गांधी जी ने) गोलमेज सम्मेलन में घोषणा की थी कि वे अपने जीवन को ही लगाकर ऐसे किसी भी कदम का विरोध करेंगे जो 'अछूतों को हमेशा के लिए अछूत बनाकर रखे।' उन्होंने घोषणा की कि अगर यह फैसला नहीं बदला गया तो वे मरण-व्रत रखेंगे।

यह व्रत 20 सितंबर को शुरू होनेवाला था। उसी दिन बहुत तड़के उन्होंने रवींद्रनाथ ठाकुर को पत्र लिखा : 'मंगलवार की सुबह के तीन बजे हैं। मैं दोपहर के समय अग्निपथ पर चलनेवाला हूं। मैं चाहता हूं कि आप दे सकें तो अपना आशीर्वाद दें। आप मेरे सच्चे मित्र रहे हैं क्योंकि आप एक स्पष्टवादी मित्र रहे हैं।' अभी उन्होंने यह पत्र डाक में भेजने के लिए किसी को दिया था कि गुरुदेव का तार उनके हाथों में पहुंच गया। 'भारत की एकता और उसकी सामाजिक अखंडता के लिए बहुमूल्य जीवन का बलिदान करना भी उचित है...हमारे दुखी हृदय आदर और प्रेम के साथ आपके उदात्त प्रायश्चित्त का अनुकरण करेंगे।'

गुरुदेव के शब्द पूरे राष्ट्र की भावना को व्यक्त करते थे। गांधी जी ने स्वेच्छा से जिस 'अग्निपथ' पर कदम रखा उसने हिंदू समुदाय के हृदय को उद्वेलित कर दिया और उसकी सोई हुई अंतरात्मा को जगाया। करोड़ों लोगों ने जो कुछ कभी नहीं किया था वह किया और एकाएक महसूस किया कि वे भी छुआछूत की लानत के लिए दोषी हैं, और अगर गांधी जी प्रायश्चित करते हुए मरे तो उसका खून सबके सिर पर होगा। पांच दिनों की तनावपूर्ण राष्ट्रीय स्तब्धता के बाद सवर्ण हिंदुओं के नेताओं ने और गांधी जी ने जिनको हरिजन या हरि के जन नाम दिया था उन अछूतों के नेताओं ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार हरिजनों के लिए आरक्षित सीटों में वृद्धि के बदले अलग निर्वाचनमंडल के अधिकार को त्याग दिया गया। यह बात गांधी जी को स्वीकार थी, और अगले दिन जबकि डाक्टर गांधी जी की दशा को लेकर चिंतित हो रहे थे, खबर आई कि ब्रिटिश सरकार ने नए समझौते को स्वीकार कर लिया है। उसी दिन दोपहर में अनेक मित्रों और प्रशंसकों की मौजूदगी में उन्होंने अपना व्रत तोड़ा। इनमें कवि रवींद्रनाथ ठाकुर भी थे जो शांतिनिकेतन से भागकर वहां पहुंचे थे और जिन्होंने गांधी जी के लिए **गीतांजलि** से एक गीत गाकर सुनाया।

कवि, संत और समाजसुधारक सदियों से हिंदू समाज में छुआछूत की बुराई की निंदा करते रहे हैं। लेकिन अगर किसी एक कृत्य ने इस बुराई की कमर तोड़ी तो इसी व्रत ने तोड़ी। इसके समाप्त होने से पहले ही सवर्ण हिंदुओं और हरिजनों ने अनेक नगरों की सड़कों पर खुले-आम भाईचारे का इजहार किया था और अनेक रूढ़िवादी मंदिर पहली बार 'हरि के इन जनों' के लिए खोल दिए गए।

जिस दिन गांधी जी ने व्रत शुरू किया उसी दिन शाम को कुछ पत्रकार उनसे

मिलने आए थे। तब गांधी जी ने उनसे कहा था : "अगर लोग मुझ पर न हंसे तो मैं विनम्रता से एक दावा पेश करूंगा जिसे मैं हमेशा रखता रहा हूं, कि मैं जन्म से 'स्पृश्य' हूं मगर स्वेच्छा से 'अस्पृश्य' हूं और मैं उनके प्रतिनिधि बनने के लिए प्रयास करता रहा हूं–'अछूतों' में भी ऊपरी दस का प्रतिनिधि नहीं, क्योंकि यह उनके लिए शर्म की बात है कि उनमें भी जातियां और वर्ग हैं। मेरी आकांक्षा 'अछूतों' में भी सबसे निचले तबकों अर्थात् 'अदृश्य' और 'अगम्य' तबकों का प्रतिनिधित्व करने और उनसे एकाकार होने की रही है। मैं जहां कहीं भी जाता हूं, ये ही मेरे मन की निगाहों के सामने रहते हैं, क्योंकि उन्होंने सचमुच गले तक जहर का प्याला पिया है। मैं उनसे मलाबार में मिला और उड़ीसा में भी, और मेरा पक्का विश्वास है कि अगर सचमुच उनका उत्थान करना है तो यह सीटों के आरक्षण से नहीं होगा बल्कि उनके बीच हिंदू समाजसुधारकों के कष्टसाध्य कार्य से संभव होगा। और चूंकि मुझे महसूस होता है कि यह अलगाव सुधार की सारी संभावनाओं को समाप्त कर देगा, इसीलिए मेरी आत्मा ने इसका विरोध किया। मुझे स्पष्ट कहने दीजिए कि अलग निर्वाचनमंडलों की समाप्ति मेरे संकल्प के शब्दों को पूरा करेगी लेकिन उसके पीछे मौजूद भावना को संतुष्ट नहीं करेगी, और स्वघोषित 'अछूत' होने के नाते मैं 'स्पृश्यों' और 'अस्पृश्यों' के बीच एक जबरदस्ती के समझौते में संतुष्ट होनेवाला नहीं हूं।"

एक बंधक

पूना समझौते का हवाला देते हुए गांधी जी ने घोषणा की : 'मैं अपने हरिजन मित्रों को, और आगे से मैं उनक.. इसी नाम से पुकाना पसंद करूंगा, विश्वास दिलाता हूं कि वे इसके समुचित पालन की जमानत के रूप में मेरे जीवन को बंधक रख सकते हैं।' इसलिए अभी वे जेल ही में थे कि उन्होंने इस आश्वासन को पूरा करने के व्यावहारिक उपायों पर अपनी सारी शक्ति लगा दी।

गांधी जी के लिए सोचना ही संकल्प करना और संकल्प करना ही कर्म करने का आरंभ था। उन्होंने जो कुछ किया, धार्मिक भावना और धार्मिक उत्साह के साथ किया। कुछ माह पहले एक पत्रलेखक ने उन्हें सुझाव दिया था कि वे राजनीति का त्याग करके इस्लाम, इंसानियत और बौद्ध मत के साझे सत्य के प्रचार में ध्यान लगाएं। उसे उत्तर देते हुए गांधी जी ने लिखा था : 'मैं धर्म को मनुष्य की अनेक गतिविधियों में एक नहीं मानता। एक ही कर्म, धर्म या अधर्म, किसी की भावना से संचालित हो सकता है। इसलिए मेरे नजदीक धर्म के लिए राजनीति का त्याग करने जैसी कोई वस्तु नहीं है। मेरे लिए हरेक, छोटी-से-छोटी गतिविधि भी उसी वस्तु से संचालित होती है जिसे मैं अपना धर्म समझता हूं।'

गांधी जी के एक जीवनीलेखक के शब्दों में 'इस प्रकार इतिहास में समाजसुधार के महानतम अभियानों में एक का आरंभ एक राजबंदी ने किया।' पहले-पहल अधिकारियों ने भी उन्हें जेल से इस काम को चलाने की सुविधाएं प्रदान कीं। उन्हें निःसंदेह यह आशा थी कि इस प्रकार राष्ट्र का ध्यान राजनीतिक आंदोलन से हटकर समाजसुधार में लग जाएगा। पूरी तरह हरिजनों की सेवा के लिए समर्पित एक अलग संगठन स्थापित किया गया और **हरिजन** के नाम से स्वयं गांधी जी द्वारा संपादित एक नया साप्ताहिक आरंभ किया गया। पिछले साप्ताहिक पत्र **यंग इंडिया** और साबरमती आश्रम का जीवन अब थोड़ा ही रह गया था। **यंग इंडिया** बंद हो गया और गांधी जी फिर कभी साबरमती के किनारे स्थित आश्रम में नहीं लौटे। जब उन्होंने अपने जगत प्रसिद्ध नमक अभियान के लिए 12 मार्च 1930 को आश्रम छोड़ा था तो उन्होंने खुद से कहा था कि जब तक देश विदेशी दासता से मुक्त नहीं होता, वे इसमें फिर कभी प्रवेश नहीं करेंगे। इसलिए आगे

चलकर यह आश्रम भी हरिजनों के कल्याण के लिए स्थापित हरिजन सेवक संघ को सौंप दिया गया।

छुआछूत हिंदू समाज की इतनी पुरानी बीमारी थी और उसकी जड़ें इतनी गहरी थीं कि जनता की सदिच्छा चाहे जितनी ही ईमानदारी भरी हो, मात्र उसके उद्‌गार से और जेल में गांधी जी को उपलब्ध सीमित साधनों से उनका उन्मूलन संभव नहीं था। लेकिन गांधी जी बेचैन थे जैसा कि कोई नया और पवित्र लगनेवाला ध्येय उठाते वक्त वे अकसर हो जाया करते थे। दूसरी ओर सरकार उन्हें एक सीमा से अधिक, असीमित सुविधाएं देने को तैयार नहीं थी क्योंकि वे बहरहाल एक कैदी थे और एक मुक्त व्यक्ति की अपेक्षा एक कैदी के रूप में अधिक दुर्जेय बन सकते थे।

इस प्रकार गांधी जी के अपने शब्दों में 'चूहे और बिल्ली का गरिमाहीन खेल' शुरू हो गया। गांधी जी समय समय पर अनशन करते रहे या अनशन की धमकी देते रहे और सरकार उन्हें रिहा और गिरफ्तार करती रही, बिना यह जाने कि कौन-सा रास्ता कम खतरों वाला था। आखिरकार सरकार ने अगस्त 1933 में उकताकर और होशहवास खोकर उनको बेशर्त रिहा कर दिया। गांधी जी ने बहादुरी का परिचय दिया और स्वयं पर यह प्रतिबंध लगा दिया कि वे हाल में मिली एक साल की सजा की बाकी मुद्दत के दौरान किसी भी प्रकार का अवज्ञा आंदोलन नहीं चलाएंगे।

अब वे अपना मुख्यालय अहमदाबाद से हटाकर मध्य भारत में स्थित वर्धा में ले गए। उन्हें एक जगह ठहरकर आराम करने की सख्त जरूरत थी, लेकिन इसकी बजाय वे अपने नए ध्येय का प्रचार करने और उसके लिए धन जमा करने के लिए देशव्यापी यात्रा पर निकल पड़े। उनके साथ जानेवाली मीरा बहन लिखती हैं : 'इसलिए वे आगे ही आगे बढ़ते रहे और हर जगह भीड़, उत्साह और असीम प्रेम से उनका परिचय होता था। जनता से इतने समय तक दूर रहनेवाले बापू के लिए यह स्वयं में एक टानिक था और इसने उन्हें अनवरत तनाव को झेलने की शक्ति प्रदान की।' उड़ीसा की यात्रा का एक भाग पैदल तय किया गया।

मार्च 1934 में इस यात्रा के क्रम को भंग करना पड़ा क्योंकि बिहार में एक तेज भूकंप ने भारी तबाही मचाई थी और वहां उनकी मौजूदगी जरूरी थी। चूंकि इन दिनों उनके गले में फंसनेवाली फांस छुआछूत थी, इसलिए गांधी जी ने फौरन इस भीषण विपत्ति को छुआछूत के पाप पर ईश्वर के प्रकोप का परिणाम बतलाया। ईश्वर की इच्छा की यह मनमानी और काल्पनिक व्याख्या इतनी अनर्गल लगती थी कि गुरुदेव रवींद्रनाथ ने खुद को इसके सार्वजनिक विरोध के लिए बाध्य समझा। उन्होंने नम्रता के साथ सुझाया कि दैवी प्रतिशोध के नाम पर एक निराधार अंधविश्वासपूर्ण भय पैदा करने की यह पुरोहितों वाली नीति शायद ही महात्मा को

शोभा देती हो। ऐसी लफ्फाजी एक दोधारी तलवार है और उनके विरोधी भी उनके अपने अभियान के खिलाफ इसका प्रयोग उतने ही विश्वसनीय ढंग से कर सकते हैं।

लेकिन गांधी जी चाहने पर बहुत अक्खड़ भी बन जाते थे और उनमें किसी तर्क को ऐसी सतह तक ले जाने की क्षमता थी जहां तर्कशास्त्र और सामान्य बुद्धि की पहुंच न हो। उन्होंने इतनी भावपूर्ण गंभीरता के साथ अपनी आस्था को दोहराया कि बौद्धिक तर्क शायद ही उसके खिलाफ कारगर हो सकता था। उन्होंने **हरिजन** में लिखा : 'मैं प्रकृति के नियमों के बारे में अपने पूर्ण अज्ञान को स्वीकार करता हूं। लेकिन जिस प्रकार मैं संशयवादियों के सामने ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने में असमर्थ होकर भी उसमें विश्वास करना छोड़ नहीं सकता, उसी प्रकार मैं बिहार की आपदा के साथ अस्पृश्यता के पाप के संबंध को सिद्ध नहीं कर सकता हालांकि मैं सहजज्ञान के द्वारा इस संबंध को महसूस करता हूं। अगर मेरा विश्वास निराधार सिद्ध हो जाए तो भी यह मेरा और मेरी बातों का विश्वास करनेवालों का भला करेगा। कारण कि हम निश्चित ही यह मानकर कि अस्पृश्यता एक घोर पाप है, और अधिक उत्साह के साथ आत्मशुद्धि के प्रयास करने के लिए प्रेरित होंगे।'
ऐसी मानवीय भावना के पीछे चाहे जो तर्क हो, उसमें दोष भला कौन निकाल सकता है

अगले कुछ वर्षों तक गांधी जी वर्धा के पास एक गांव में एक मिट्टी की बनी झोपड़ी में रहे और अपना पूरा ध्यान, पूरी शक्ति हरिजनों के उत्थान तथा देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्थामय शिक्षा के विकास और प्रचार के लिए लगाते रहे। उन्होंने कहा : 'भारत शहरों में नहीं, गांवों में रहता है। अगर मैं गांवों को उनकी दरिद्रता से मुक्ति दिला सका तो मैं समझूंगा कि मैंने स्वराज्य पा लिया है।' हालांकि उनके विचार कभी स्थिर नहीं रहे और हमेशा विकास करते रहे, मगर उनका अंतर्निहित आधार हमेशा स्थिर रहता था। यह आधार अपनी सहायता आप करने का था। व्यक्तियों और समुदायों का सर्वोत्तम विकास उसी सीमा तक होता है जिस सीमा तक वे अपने घरेलू संसाधनों से शक्ति प्राप्त करते हैं।

गांधी जी ने कांग्रेस की औपचारिक सदस्यता छोड़ दी थी और अकसर कहते थे कि वे पार्टी के चवन्निया सदस्य तक नहीं हैं। लेकिन कांग्रेस उनको तनहा छोड़ने का जोखिम नहीं उठा सकती थी। इसी तरह एक दशक पहले भी वे सक्रिय राजनीतिक नेतृत्व से आभासी रूप में अलग हुए थे तो उनको 1925 में कांग्रेस की अध्यक्षता स्वीकार करने पर तैयार कर लिया गया था। इसे उन्होंने इस आशा से स्वीकार किया था कि वे कांग्रेस की विचारधारा और रणनीति को नयी दिशा देकर संगठन को जनसंपर्क या उनके शब्दों में जनसेवा का और अधिक कारगर साधन बना सकेंगे। इसलिए अब सेवाग्राम भी, जहां उन्होंने अपना झोपड़ा बनाया

था, राजनीतिक तीर्थयात्रा का केंद्र बन गया जैसे पहले साबरमती आश्रम बना था। न ही उन्होंने सलाह मांगी जाने पर उसे देने से कभी घृणा की, और सलाह तो हमेशा ही मांगी जाती थी।

वास्तव में सक्रिय राजनीति से गांधी जी का आभासी अलगाव यथार्थ से अधिक रणनीतिक था। एक प्रकार से यह समय समय पर पीछे हटना था। इससे उन्हें अपनी खुद की शक्तियों को तैयार और प्रशिक्षित करने की स्वतंत्रता और संभावना प्राप्त होती थी जिसे वे समय पर इस्तेमाल कर सकें। अगर किसी अहिंसक तकनीक को जुझारू रणनीति कहा जा सके तो उनकी जुझारू रणनीति यह थी कि हरेक गांव को इस प्रकार आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था और अनुशासित नैतिक साहस का गढ़ बना दिया जाए कि देशी या विदेशी शासक जनता की इच्छा का अनादर करें तो अपने-आप पंगु बनकर रह जाएं।

यह रणनीति उस छापामार तोड़फोड़ के ठीक उलटी थी जिसे आज सभी भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों में भारी प्रशंसा प्राप्त है। दुर्भाग्य से गांधी जी का तरीका लोगों से जितने धैर्य, जितनी आस्था और जितने साहस का तकाजा करता था वे उसके लिए तैयार नहीं थे। इसलिए उसकी प्रभाविता का पर्याप्त प्रदर्शन कभी संभव नहीं हुआ। यह एक स्वप्न ही बना रहा, स्वप्न ही है और शायद हमेशा एक स्वप्न बना रहेगा।

भंवर में गिरफ्तार

1939 में विश्वयुद्ध छिड़ने के कारण गांधी जी फिर एक राजनीतिक भंवर में फंस गए। जब जनता खतरों में घिरी हो और संकट आसन्न हो तो वे चुप बैठने और जिम्मेदारी से बचनेवाले व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने अपने ईश्वर को कभी मंदिर या गिरजाघर में नहीं, बल्कि हमेशा ही सड़क या रणभूमि की धूल-धक्कड़ में ढूंढ़ा था। दुनिया जबकि लपटों से घिरी हो, उनका कर्तव्य क्या था ? लपटों को बुझा सकें तो बुझाने की कोशिश करना या उनको और हवा देना ताकि, गुरुदेव के एक प्रसिद्ध गीत के शब्दों में, वर्तमान का गला घोंटनेवाले अतीत का तमाम कूड़ा-कचरा जलकर पवित्र भस्म बन जाए ? उनकी दुविधा इसी बात को लेकर थी।

उन्होंने पहले विश्वयुद्ध में निष्ठा के साथ ब्रिटिश साम्राज्य का समर्थन किया था। इसके पहले शताब्दी के परिवर्तन के समय उन्होंने बोअर युद्ध में साम्राज्य को अपनी सेवाएं दी थीं हालांकि उनकी निजी हमदर्दी बोअर जनता के लक्ष्य के साथ थी। उसके बाद उनके दृष्टिकोण में दो दृष्टियों से मूलभूत परिवर्तन आया था। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनका सम्मान और लगाव का भाव पूरी तरह नष्ट हो गया था हालांकि विभिन्न स्त्री-पुरुषों के रूप में ब्रिटिश जनता के प्रति उनका आदर और लगाव का भाव शेष था। युद्ध में भी उनकी आस्था पूरी तरह जाती रही थी, भले ही उसे किसी कारण से लड़ा जाए। मनुष्य द्वारा मनुष्य के वध से किसी का भला होगा—इसमें उनका विश्वास जाता रहा था। उन्होंने यह जरूर कहा कि 'मेरी हमदर्दियां पूरी तरह मित्रराष्ट्रों के साथ हैं,' मगर वे 'समस्त युद्ध को पूरी तरह गलत' मानने लगे थे।

उन्होंने हमेशा यह बात कही थी कि किसी को मारे बिना मरना वीरता का श्रेष्ठतम रूप था। अहिंसा में आस्था रखने के बावजूद उन्होंने पहले ब्रिटिश साम्राज्य के लिए सिपाही भरती कराए थे।

उनके मानसिक रुझान में एक प्रकार का लोच था बल्कि अस्पष्टता थी जो उनको विभिन्न कालों में विभिन्न और कभी कभी परस्पर विरोधी पक्षों पर जोर देने की क्षमता प्रदान करती थी। जिस समय वे पूर्ण अहिंसा का प्रचार कर रहे थे उस समय भी उन्होंने बार बार जोर देकर कहा था कि 'जहां केवल कायरता

और हिंसा के बीच चुनाव करना हो वहां मैं हिंसा अपनाने की सलाह देता हूं।'

जिस समय पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत के अनगढ़ लड़ाकू पठानों ने अब्दुल गफ्फार खान के नेतृत्व में, जिन्हें इसी कारण सीमांत गांधी कहा गया, स्वेच्छा से अहिंसा को अपनाया, गांधी जी बहुत प्रसन्न हुए थे। 1938 में सीमाप्रांत की यात्रा के दौरान गांधी जी ने उनसे कहा था : 'अगर आपने अहिंसा की शक्ति को समझ लिया है तो अपने हथियार त्यागकर आपको अधिक शक्ति का अनुभव होना चाहिए.. .लेकिन अगर आपने इस शक्ति के रहस्य को नहीं समझा है, अगर हथियार छोड़ने के फलस्वरूप आप खुद को शक्तिशाली नहीं, कमजोर समझते हैं, तो आपके लिए अहिंसा के व्रत को छोड़ देना ही बेहतर होगा।'

कांग्रेस के अंदर और उसके बाहर भी बहुत-से लोग समझते थे कि चोट करने का समय आ गया है क्योंकि ब्रिटेन की मुसीबत भारत के लिए सुनहरा मौका है, जैसा कि दुनियादारों का चलताऊ और अकसर दोहराया जानेवाला सूत्र कहता है। लेकिन गांधी जी ऐसे रवैये को अनैतिक और कांग्रेस के पंथ के विपरीत समझते थे। उन्होंने कहा : 'हम ब्रिटेन की तबाही में अपनी स्वतंत्रता की खोज नहीं करते। यह अहिंसा का रास्ता नहीं है।' दूसरी ओर वे ब्रिटेन के इस दावे की नैतिक असंगति के प्रति भी पूरी तरह सचेत थे कि वह यूरोप में स्वाधीनता और लोकतंत्र के लिए लड़ रहा था, जबकि भारत में वह इन्हीं सिद्धांतों के साथ घात कर रहा था।

गांधी जी इसी दुविधा से ग्रस्त थे। एक तरफ यूरोप में तबाही को लेकर वे चिंतित थे और पराजित फ्रांस के साथ हमदर्दी रखते थे। वे अंग्रेजों के प्रशंसक थे कि उनकी पीठ दीवार से लगी थी मगर वे बुरी तरह लड़े जा रहे थे। दूसरी तरफ वे उनकी सरकार के दुराग्रह को लेकर दुखी थे कि भारत की आकांक्षाओं और कल्याण के प्रति उसकी उदासीनता भारत की जनता की कटुता और हताशा में बढ़ोतरी कर रही थी। उन्होंने स्वीकार किया : 'मैं निराश हो चुका हूं। मैं अपने दिल की गहराइयों में अपने ईश्वर से बराबर लड़ रहा हूं कि वह ऐसी घटनाओं को घटित होने दे रहा है।'

अगर भारत ब्रिटेन के साथ समानता के आधार पर युद्ध-प्रयासों में भाग ले सकता तो अधिकांश कांग्रेसी नेता इसका स्वागत करते, और उन्होंने सचमुच इसका प्रस्ताव भी रखा। गांधी जी सशर्त अहिंसा में विश्वास नहीं रखते थे मगर वे यथार्थवादी जरूर थे। उन्होंने समझ लिया कि वे अपने सहयोगियों के बहुमत को हिंसा के पूर्ण निषेध के कांटेदार रास्ते पर अपने साथ लेकर नहीं चल सकते थे। कारण कि ये सहयोगी संत नहीं, अधिक से अधिक देशभक्त राजनीतिज्ञ थे। न ही वे इतने दंभी थे कि पार्टी पर जोर देते कि वह उनके नेतृत्व के बदले उनके पंथ को **पूरी तरह** स्वीकार करे, हालांकि उन्हें पता था कि आसन्न संकट की घड़ी

में पार्टी उनके बिना काम भी नहीं चला सकती थी और अगर वे जोर डालें तो उसके सामने उनकी शर्तें मानने के अलावा कोई विकल्प भी नहीं रहेगा। लेकिन उन्होंने बुद्धिमत्ता और गरिमा के साथ स्वयं को पीछे कर लिया और राष्ट्र को सलाह दी कि वह मित्रराष्ट्रों के युद्ध-प्रयासों में पूरी भागीदारी के आधिकारिक कांग्रेसी प्रस्ताव का अनुमोदन करे, इस शर्त के साथ कि ब्रिटेन बिना किसी शर्त के भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता दे।

उन पर असंगति का दोष लगाया गया, खासकर इसलिए उन्होंने उसी समय अपना वैयक्तिक सत्याग्रह का अभियान शुरू कर दिया था। इसमें चुने हुए व्यक्ति पूरे देश में जाते और सार्वजनिक रूप से कहते थे : 'जन या धन देकर ब्रिटिश युद्ध-प्रयासों में सहायता देना गलत है। अहिंसक अवज्ञा के द्वारा समस्त युद्ध का प्रतिरोध करना एकमात्र उचित कार्य है।' लेकिन ऐसे व्यंग्य उस आदमी के लिए पूरी तरह निरर्थक थे जो बार बार कहता था कि 'मेरा उद्देश्य किसी विशेष प्रश्न पर अपने पिछले वक्तव्यों से संगति बनाए रखना नहीं है बल्कि किसी विशेष क्षण में मेरे सामने प्रस्तुत होनेवाले सत्य से संगति बनाए रखना है। परिणाम यह है कि मैं एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर बढ़ा हूं।'

लेकिन हो सकता है कि गांधी जी एक सत्य से दूसरे सत्य की ओर बढ़ते रहे हों, राष्ट्र तो बदहाल से बदहालतर होता जा रहा था और ब्रिटेन एक के बाद एक तबाही से कराह रहा था। दक्षिण-पूर्व एशिया में जापानी विजय की देखने में अजेय लहर को रोकने में असमर्थ और अमरीका की हमदर्दी खोने के प्रति अनिच्छुक होकर विंस्टन चर्चिल ने अपने युद्धकालीन मंत्रिमंडल में समाजवादी सहयोगी सर स्टैफोर्ड क्रिप्स को एक 'घोषणा का मसविदा' देकर भारत भेजा। इसका अभिप्राय ब्रिटेन के युद्ध-प्रयासों की आवश्यकताओं को छोड़े बिना राष्ट्रवादी आकांक्षाओं को संतुष्ट करना और विभिन्न परस्पर विरोधी हितों के बीच तालमेल बिठाना था।

उस समय सर स्टैफोर्ड क्रिप्स मिशन के लिए उपयुक्त व्यक्ति लगते थे। वे साम्राज्यवाद के विरोधी थे और भारतीय आकांक्षाओं के साथ उनकी हमदर्दी जगजाहिर थी। वे एक समाजवादी भी थे और सोवियत संघ में एक कठिन काम के दौरान उनकी कूटनीतिक योग्यता का परीक्षण हो चुका था। नेहरू और दूसरे भारतीय नेताओं से उनका व्यक्तिगत परिचय था और शुद्ध शाकाहारी, धर्मभीरु ईसाई और सादे जीवन वाला व्यक्ति होने के नाते आशा थी कि वे फौरन गांधी जी का दिल जीत लेंगे। वे योग्य और कुशाग्र-बुद्धि थे, मिलनसार और मित्रता-प्रेमी थे, अपने ध्येय के औचित्य में विश्वास रखते थे और उनकी सफलता के प्रति निश्चिंत थे।

दुर्भाग्य से उन्हें जिन बाधाओं का सामना करना पड़ा उन्हें उन्होंने कम करके आंका था। उस समय के आपसी संदेह और कटुता के माहौल में मुस्लिम लीग

के दावों के साथ कांग्रेस के उद्देश्यों का, तथा राजाओं के हितों के साथ इन दोनों का तालमेल बिठाना, और साथ ही ब्रिटेन के नेतृत्व में युद्ध के अबाध संचालन के लिए पर्याप्त सुरक्षामूलक उपाय सुनिश्चित करना लगभग असंभव था।

इस मिशन की असफलता उसी में निहित थी। सच्चाई यह है कि भारत को ब्रिटेन का दुमछल्ला समझा जाता था और उसके वास्तविक हित उसके शासकों के लिए बेमानी थे। चर्चिल का सरोकार युद्ध के संचालन से था और ब्रिटेन के लाभ के लिए भारत को खून बहाने पर तैयार करना उसे वांछित लगता था। भारत ही प्रमुख रक्तदाता होना चाहिए। जहां तक भारत के भविष्य का सवाल था, ब्रिटिश सरकार ने इस पर कुछ नहीं सोचा था। वह किनारे पर बैठी ज्वालामुखी को खुदबुदाते देख रही थी। इस सिलसिले में, यूरोप के ज्वालामुखी के बारे में चर्चिल के पूर्ववर्ती चैंबरलेन ने ज़िस दूरदृष्टि या साहस का परिचय दिया था, चर्चिल ने उससे कुछ अधिक दूरदृष्टि या साहस का परिचय नहीं दिया था।

वार्ताकार के रूप में ब्रिटिश मंत्रिमंडल द्वारा क्रिप्स का चुनाव चाहे जितना अच्छा रहा हो, इस मिशन की रूपरेखा ही बड़ी बुरी साइत में तैयार की गई थी। क्रिप्स को आरंभ से ही एक दोहरी बाधा का सामना करना पड़ा। एक ओर भारतीयों में यह आम विश्वास था कि ब्रिटेन किसी सदिच्छा या उदारता के कारण नहीं बल्कि जापानी खतरे से डरकर देश से मित्रता का यह दिखावा कर रहा था। दूसरी ओर किसी अन्य को सत्ता के प्रभावी हस्तांतरण के विचार के प्रति भारत में वायसराय और ब्रिटिश प्रशासन का शत्रुता का रवैया था जिसे छिपाने की कोई खास कोशिश नहीं की जाती थी।

फिर यह विश्वास करना भी आसान नहीं था कि जिस ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने गांधी जी और कांग्रेस के प्रति अपनी पुरानी नफरत को छिपाने की कभी कोशिश नहीं की थी और जो पहले घमंड के साथ ऐलान कर चुका था कि वह 'ब्रिटिश साम्राज्य के विसर्जन की अध्यक्षता करने के लिए सम्राट का प्रधानमंत्री' नहीं बना था, वही क्रिप्स को अपने मिशन में कामयाब होते सचमुच देखना चाहेगा। ऐसे छिद्रान्वेषियों की भी कमी नहीं थी जो कहते थे कि चर्चिल ने जानबूझकर क्रिप्स को इस असाध्य मिशन पर इस आशा के साथ भेजा था कि इसकी असफलता एक भावी प्रतिद्वंद्वी को बदनाम करेगी और साथ ही चर्चिल के अंग्रेज और अमरीकी आलोचकों के लिए इसका एक विश्वसनीय प्रमाण भी जुटाएगी कि भारतीय नेता निराशाजनक सीमा तक अयथार्थवादी, बुद्धिहीन और अविश्वसनीय हैं। चर्चिल के मन में क्या था और यह मिशन क्यों इस बुरी तरह असफल हुआ—यह ऐसा प्रश्न है जिसके एक से अधिक उत्तर दिए गए हैं और दिए जा सकते हैं।

सच्चाई चाहे जो हो, दुर्भाग्य की बात यह थी कि भारत के ब्रिटिश अधिकारियों के छल-कपट और उदासीनता ने स्थिति को विषम बना दिया था,

ब्रिटेन की नैतिक और सैनिक प्रतिष्ठा गिर चुकी थी, और वातावरण अविश्वास और भय से भरा हुआ था। इन हालात में उस समय कोई रचनात्मक समाधान शायद संभव भी नहीं था। यहां तक कि शत्रु का विश्वास करने और किसी वस्तु को समाप्त करने की बजाय उसे सुधारने में विश्वास रखनेवाले गांधी जी भी इतने निराश और कटु हो उठे कि क्रिप्स से केवल एक बार मिलने के बाद उन्होंने उसे फौरन वापसी का जहाज पकड़ने की सलाह दे दी।

भारतीय नेताओं को चिढ़ हो गई कि क्रिप्स ने उन्हें धोखा दिया है, और क्रिप्स ने उन पर यही इलजाम लगाकर हिसाब बराबर कर लिया। किसने किसको धोखा दिया, यह कहना कठिन है। यह तो हालात ने हरेक को धोखा दिया था।

भारत छोड़ो

क्रिप्स मिशन की असफलता से हर तरफ कुंठा का वातावरण और गहराया। बद से बदतर होने की प्रक्रिया तेज हो गई। जापानी भारत की सीमा लगभग पार कर चुके थे और हमले के लिए तैयार थे। करोड़ों और खासकर पूर्वी क्षेत्र के हिंदुस्तानियों के लिए जापानी खतरा इस उल्लासपूर्ण विचार से दब गया कि उनके प्यारे जननायक सुभाषचंद्र बोस उन्हें मुक्ति दिलाने आ रहे थे। इस बीच इस गतिरोध से प्रोत्साहित होकर जिन्ना और मुस्लिम लीग और भी जोर-शोर से एक अलग मुस्लिम राज्य की मांग करने लगे थे।

बाहर के हमले और अंदर के खतरे की इस हताशाजनक स्थिति में गांधी जी को अधिकाधिक यह विश्वास होता गया कि राष्ट्र इस दोतरफा संकट का मुकाबला तभी कर सकता है जब अंग्रेज भारत को आजाद करके चले जाएं और उसे, उनके शब्दों में, ईश्वर के भरोसे या जरूरी ही हो तो अराजकता के हवाले छोड़ दें। असहायता, सनक और कड़वाहट के मौजूदा वातावरण से अधिक हतोत्साही या पतनकारी कुछ हो ही नहीं सकता था। उन्हें भय था कि अगर इस विरोध और अधैर्य को किसी प्रकार के सुनियोजित सत्याग्रह के रूप में संगठित और अनुशासित अहिंसक अभिव्यक्ति नहीं दी गई तो यह व्यापक और अनियंत्रित अव्यवस्था और हिंसा के रूप में फूट पड़ेगा।

लुई फिशर से उन्होंने कहा था : 'मुझे अंग्रेजों से चले जाने की मांग करने का मूल विचार एकाएक आया था। इस विचार को क्रिप्स की असफलता ने प्रेरित किया था। अभी मुश्किल से वे गए थे कि यह विचार मेरे मन में मंडराने लगा।' इसके कुछ ही बाद **लाइफ** और **टाइम** वाले बेलडन के सामने उन्हें इस विचार की व्याख्या करने का अवसर मिला था : 'जापानियों के आगमन से पहले ही भारत को पीसा जा रहा और अपमानित किया जा रहा है।—भारत की रक्षा के लिए नहीं, और किसकी रक्षा के लिए, इसे कोई नहीं जानता। और इसलिए एक दिन मैं यह ईमानदाराना मांग करने के फैसले पर पहुंचा कि 'ईश्वर के लिए भारत को उसके हाल पर छोड़ दो। हमें स्वतंत्रता की हवा में सांस लेने दो। यह हमारा गला घोंट सकती है, हमें मार सकती है जैसा कि उसने गुलामों की आजादी पर उनके साथ

किया है। लेकिन मैं मौजूदा तमाशे को खत्म होते देखना चाहता हूं।' वे आगे कहते हैं : 'मैंने अंग्रेजों से भारत को कांग्रेस या हिंदुओं के हवाले करने को नहीं कहा है। बेहतर है वे भारत को ईश्वर या, आधुनिक शब्दावली में, अराजकता के हवाले कर दें। फिर सभी पार्टियां कुत्तों की तरह एक-दूसरे से लड़ेंगी या फिर, सिर पर जिम्मेदारी आने पर, एक माकूल समझौते पर पहुंचेंगी। मैं उसी अव्यवस्था में अहिंसा के उदय की आशा रखूंगा।'

इस प्रकार गांधी जी ने 7 अगस्त 1942 के ऐतिहासिक दिन को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सत्र में 'भारत छोड़ो' का ऐतिहासिक प्रस्ताव रखा। इस 'ईमानदाराना मांग' की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा : 'जनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद और ब्रिटिश जनता में कोई अंतर नहीं करती। उसके लिए दोनों एक हैं। यह घृणा उनमें जापानियों का स्वागत तक कराएगी। यही सबसे बड़ा खतरा है। इसका मतलब यह है कि जनता एक गुलामी की जगह दूसरी गुलामी को स्वीकार करेगी। हमें इस भावना से मुक्त होना पड़ेगा। हमारा झगड़ा ब्रिटिश जनता नहीं, उसके साम्राज्यवाद के साथ है। ब्रिटिश सत्ता की समाप्ति का प्रस्ताव क्रोध की उपज नहीं है। यह भारत को मौजूद नाजुक घड़ी में अपनी उचित भूमिका निबाहने में समर्थ बनाने के लिए आया है...जब तक हम इस युद्ध को अपना युद्ध नहीं समझते, जब तक हम स्वतंत्र नहीं हैं, हम बलिदान और शौर्य की सच्ची भावना नहीं जगा सकते।'

अभी तक उन्होंने अपने मन में भी कार्रवाई की कोई स्पष्ट योजना नहीं बनाई थी। वे कोई कड़ा कदम उठाने से पहले वायसराय से मिलना और उसकी सद्भावना को आखिरी बार जगाना चाहते थे। लेकिन 9 अगस्त को पहलकदमी उनके हाथ से निकल गई जब तड़के सुबह उन्हें और दूसरे नेताओं को एक साथ गिरफ्तार कर लिया गया तथा भारी सुरक्षा में और खामोशी की दीवार खड़ी करके अलग अलग जेलों में भेज दिया गया। यह पहले से सुनियोजित चाल थी। सरकार ने फैसला कर लिया था कि वह कोई जोखिम नहीं लेगी और तूफानी गति से भारी चोट करेगी।

जनता को इसकी उम्मीद न थी अतः वह हक्का-बक्का रह गई। उसने निराशा में बौखलाकर कदम उठाया। लगभग फौरन ही देश के विभिन्न भागों में अव्यवस्था फैल गई। गांधी जी के प्रेरणा देने और संयमित करनेवाले नेतृत्व से वंचित होकर जनता ने कानून को अपने हाथों में ले लिया तथा प्रशासन और संचार के तंत्र को चरमरा देने के लिए जो कुछ कर सकती थी, करने लगी। पहले से युद्ध के आकांक्षी और अच्छी तरह तैयार अधिकारियों ने जन-हिंसा का जवाब और भी अधिक हिंसा से दिया जब तक कि भारत आखिरकार वही नहीं दिखाई देने लगा जो वह वास्तव में हमेशा से था—यानी हथियारों के बल पर कब्जाया गया

देश। और यह कब्जा अब ढका-छिपा नहीं रहा।

गांधी जी को पूना के आगा खान महल में नजरबंद कर दिया गया। भारी सुरक्षा से घिरे इसी 'महल' में उनके साथ सरोजिनी नायडू, मीरा बहन और महादेव देसाई भी नजरबंद कर दिए गए। तीन दिनों बाद कस्तूरबा गांधी और सुशीला नायर को भी उनमें शामिल होने की इजाजत दे दी गई।

गांधी जी अपने घटनाओं से भरे जीवन में अनेकों बार कैद में रखे गए थे। लेकिन इस आखिरी नजरबंदी का काल उनके लिए सबसे मुश्किल साबित हुआ। शारीरिक रूप से नहीं क्योंकि इस विशालकाय महल में वे जिस्मानी आराम की जो भी जरूरतें चाहते, उन्हें मिल सकती थीं। वास्तव में वे जेल की एक साधारण कोठरी में कहीं कम दुखी होते। यह विचार उनके मन को मथ रहा था कि सरकार उनको उस 'महल' में रखने पर भारी रकम खर्च कर रही थी। भारत सरकार की दौलत आखिरकार उन गरीबों को छोड़ कहां से आती थी जिनके पास कभी अपनी न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी करने के साधन नहीं रहे ?

इसके अलावा वे देश में व्याप्त हिंसा से बहुत विचलित हुए और सरकार के इस निराधार आरोप से भी कि वे ही जन-हिंसा के लिए जिम्मेदार थे। वे दुखी महसूस करते थे कि वायसराय ने अन्यायपूर्ण ढंग से उनको यह अधिकार देने से इनकार कर दिया था कि वे उससे मिल सकें और खुद अपनी बात रख सकें, और जानबूझकर उसने जनता को उनके अहिंसक मार्गदर्शन से वंचित करके हिंसा पर उतारु बना दिया था।

कुंठा और असहायता की इस भावना के साथ एक भारी निजी त्रासदी भी आ जुड़ी। गिरफ्तारी के छह दिन बाद महादेव देसाई एकाएक दिल का दौरा पड़ने से चल बसे। वे 25 वर्षों से गांधी जी के सचिव और समर्पित साथी रहे थे और गांधी जी उन्हें अपने बेटे की तरह प्यार करते थे। जिस जगह उनके शरीर का दाह-संस्कार किया गया वहां गांधी जी ने पत्थर और मिट्टी की एक समाधि बनवाई ओर उनके कहने पर मीरा बहन ने समाधि के ऊपर 'ऊँ' लिख दिया और उसके नीचे क्रास बना दिया। मीरा बहन लिखती हैं कि गांधी जी फूल चढ़ाते तो हमेशा क्रास के ऊपर। 'जब मैं बापू को देखती, मुझे रोम की वह सलीब याद आती जिसने उन्हें इस कदर अभिभूत कर दिया था, और मुझे लगता था कि महानतम बलिदान का वह प्रतीक उनके लिए उनके अस्तित्व की सबसे मूलभूत आकांक्षा का प्रतीक था। यही समय था जब गांधी जी की पसंदीदा ईसाई प्रार्थनाएं धीरे धीरे बदलने लगीं; वे **लीड काइंडली लाइट** की जगह **व्हेन आई सर्वे दि वंडरफुल क्रास** को पसंद करने लगे, और अब वे सभी विशेष अवसरों पर इसी एक प्रार्थना के गाए जाने की मांग करने लगे।

अब गांधी जी ने वायसराय और उसके सलाहकारों से एक लंबा और

कष्टपूर्ण पत्रव्यवहार शुरू किया। इसका मकसद उनको अव्यवस्था के लिए जिम्मेदार ठहराकर उनके खिलाफ लगाए गए मनमाने आरोपों और लांछनों का खंडन करना था। ब्रिटेन और अमरीका में उनके खिलाफ फैलाए गए लोकापवाद इतने दुर्भावनापूर्ण थे कि फील्ड मार्शल स्मट्स को मजबूर होकर लंदन के एक पत्रकार सम्मेलन में कहना पड़ा : 'महात्मा गांधी को एक पंचमांगी कहना भारी मूर्खता है। वे एक महान व्यक्ति हैं। वे दुनिया की महान विभूतियों में एक हैं।' बेशक दिल ही दिल में चर्चिल और वायसराय लिनलिथगो भी इस बात को जानते थे। लेकिन अब जबकि अमरीका का भारी युद्धतंत्र युद्ध के परिणामों को उलट-पलट देने के करीब था, इस 'अधनंगे फकीर' की परेशानियों पर चहकना चर्चिल की रणनीति और उसके मिजाज के भी अनुकूल था।

सरकार से कोई संतोषजनक उत्तर न पाकर गांधी जी ने उस एकमात्र विकल्प को अपनाया जिसे वे अपनी समझ में एक भारी नैतिक अपराध के असहाय और विनयपूर्ण शिकार, या गवाह, के रूप में अपना सकते थे। उन्होंने व्रत रखकर इंद्रियों का शमन करने का फैसला किया। पहले उन्होंने वायसराय को लिखा था : 'तो फिर अगर मैं अपने कष्ट के लिए एक राहत देनेवाला मरहम नहीं पा सकता तो मुझे एक सत्याग्रही के लिए निर्धारित नियम का सहारा लेना होगा, अर्थात अपनी क्षमता के अनुसार व्रत रखने का।' उन्होंने 21 दिनों के अनशन का ऐलान किया। लिनलिथगो विचलित नहीं हुआ, वह चिंता से रहित दिखाई देता था। अपने कैदी के फैसले पर दुख व्यक्त करते हुए उसने चुटकी ली : 'मैं राजनीतिक उद्देश्यों के लिए व्रत के उपयोग को एक प्रकार का राजनीतिक ब्लैकमेल समझता हूं जिसका कोई नैतिक औचित्य नहीं है।' गांधी जी ने इस नसीहत का यूं जवाब दिया : 'एक सर्वशक्तिमान सरकार के प्रतिनिधि के रूप में आपका, और अपने देश और उसके माध्यम से मानवता की सेवा का प्रयास करनेवाले एक विनम्र व्यक्ति के रूप में मेरा फैसला आनेवाली पीढ़ियां क़रेंगी।'

यह अनशन 10 फरवरी 1943 को शुरू हुआ। कुछ ही दिनों में गांधी जी की हालत तेजी से बिगड़ने लगी। जनता की चिंता चरम सीमा तक पहुंच गई और सरकार के निर्मम व्यवहार के विरोध में वायसराय की कार्यकारिणी परिषद के तीन भारतीय सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया। लेकिन अधिकारीगण अड़े रहे। सौभाग्य से गांधी जी इस संकट से बच निकले।

एक और निजी त्रासदी उनका इंतजार कर रही थी। दिसंबर 1943 में कस्तूरबा बीमार पड़ीं और अगले वर्ष फरवरी में वे गांधी जी की गोद में सिर रखे चल बसीं। उनकी अंतिम इच्छा के अनुसार उनको अपने पति के हाथों से कते धागे की सफेद साड़ी पहनाकर उसी जगह दाह-संस्कार किया गया जहां पहले महादेव देसाई का किया गया था, और वहीं बगल में उनकी भस्म पर एक समाधि

बना दी गई। उनकी मृत्यु के साथ 62 वर्षों का वह साथ छूट गया जो कष्ट और आंसू भरे अनेक संकटों में भी बना रहा था और समय के साथ और प्रगाढ़ हुआ था। नए वायसराय लार्ड वेवेल के शोक-संदेश को स्वीकार करते हुए गांधी जी ने लिखा था : 'हालांकि उनके लिए कष्टों से मुक्ति समझकर मैंने उनकी मृत्यु का स्वागत किया, मगर मैं उनकी कमी को उससे कहीं ज्यादा महसूस करता हूं जितना मैं समझता था कि मुझे करना होगा।' वे आगे कहते हैं कि वे एक 'असाधारण दंपत्ति' थे।

कुछ ही हफ्तों में गांधी जी का अपना स्वास्थ्य चिंता का कारण बन गया। डाक्टरी जांच से खून में परजीवी कीटाणुओं और आंतों में एमीबियोसिस के होने का पता चला। जब उनकी हालत और बिगड़ी तो उनकी रिहाई के लिए जन-आंदोलन तेज हो गया और पूरे देश में उसकी लहर दौड़ गई। 6 मई को सैनिक रहे वायसराय ने उनकी बेशर्त रिहाई का हुक्म जारी किया। गांधी जी इतने कमजोर हो गए थे कि कुछ समय बाद उनको फिर से अपनी शक्ति पाने के लिए लंबे समय तक मौन-व्रत रखना पड़ा।

अंधेरे में टटोलना

लेकिन वे कमजोर हों या मजबूत हों, वे खामोश बैठकर देश की हालत को लगातार बिगड़ते नहीं देख सकते थे। न ही उनको स्वास्थ्य के आधार पर रिहा किए जाने की खुशी थी। कुछ भी हो, उनकी रिहाई सलाखों से उनको निकालकर एक बड़ी जेल में डाले जाने के समान थी क्योंकि अब उनका देश ही एक विशाल कारागार बन चुका था।

पूना में कांग्रेसियों की एक सभा से उन्होंने कहा था : 'सत्याग्रही का बीमार होना शर्म की बात है...मुझमें आपकी श्रद्धा मुझे अभिभूत करती है। मेरी आकस्मिक रिहाई ने भारी आशाएं जगाई हैं। मैं इस विश्वास का पात्र हूं, इसमें मुझे संदेह है। लेकिन मैं इतना जरूर जानता हूं कि मुझमें चाहे जितनी भी शक्ति हो, वह पूरी तरह इस तथ्य के कारण है कि मैं सत्य और अहिंसा का पुजारी हूं। कुछ मित्रों ने मुझसे कहा है कि राजनीति और दुनिया के मुआमलों में सत्य और अहिंसा की कोई जगह नहीं है। लेकिन मैं उनसे सहमत नहीं हूं। मेरे लिए निजी मुक्ति के साधन के रूप में उनका कोई इस्तेमाल नहीं है। मैं हमेशा ही दैनिक जीवन में उनके समावेश और व्यवहार के प्रयोग करता रहा हूं।'

उन्होंने वायसराय से मिलना चाहा मगर उनकी प्रार्थना को ठुकरा दिया गया। उन्हें पता था कि ब्रिटिश सरकार हिंदुओं और मुसलमानों को अलग रखने और इस अलगाव का फायदा उठाकर भारत में अपना शासन बनाए रखने के लिए मुस्लिम मांगों को हवा दे रही थी। पूरे जीवन-भर वे हिंदू-मुस्लिम एकता के पक्षधर रहे और उसके लिए प्रयास करते रहे थे। 1919 में उन्होंने अपनी सीमा से बाहर जाकर खिलाफत को अपना लक्ष्य बनाया था, और आगे चलकर सांप्रदायिक सौहार्द पैदा करने के लिए अनशन किया था। लेकिन वे मुस्लिम नेताओं को अपनी ओर लाने के लिए जितने ही प्रयास करते थे और उनको प्रसन्न करने के लिए अपनी सीमा से जितना बाहर जाते थे, उनकी मांगें उतनी ही बढ़ती जाती थीं।

क्या इस समस्या पर गांधी जी के दृष्टिकोण में कोई दोष था कि उनका हर प्रयास असफल हो जाता था ? इसकी व्याख्या कैसे की जाए कि दक्षिण अफ्रीका में हो या आगे चलकर भारत में हो, उनकी तकनीक विदेशी शत्रु का दिल जीतने

में तो कामयाब रही मगर अपने ही देशवासियों के सिलसिले में बुरी तरह नाकाम हो गई ? प्रेम और अहिंसा का यह निःसंदेह प्रामाणिक देवदूत अधिकांश भारतीय मुसलमानों के दिलों को छूने में क्यों नाकाम रहा, यह इतिहासकारों और सामाजिक मनोवैज्ञानिकों के लिए ध्यान देने योग्य प्रश्न है। दुखद विरोधाभास तो यह था कि उनका दिल जीतना तो दूर, उन्होंने उनको ही नहीं बल्कि बहुत सारे अपने हिंदू भाइयों को भी बेगाना बना दिया।

दोष निश्चित ही व्यक्ति में नहीं, पद्धति में था। यह असफलता रणनीति की असफलता थी। व्यक्ति रूप में गांधी जी असफल होना नहीं जानते थे। जो कुछ वे जीवित रहकर नहीं प्राप्त कर सके, उसे ही उन्होंने मरकर शान के साथ प्राप्त किया।

लेकिन यह असफलता जो आगे चलकर हताशाजनक और त्रासद साबित हुई, अभी भी एक मोड़ के पीछे थी जो बहुत दूर भी नहीं था। इस बीच हमेशा से अदम्य आशावादी रहे गांधी जी ने गहराती निराशा के बीच भी अपनी आस्था को नहीं छोड़ा। वायसराय के इनकार से अविचलित रहकर अब उन्होंने जिन्ना से संपर्क किया। सितंबर 1944 में गांधी जी ने 'प्रिय भाई जिन्ना' से अनेक मुलाकातें कीं जो उनकी ही प्रार्थना पर जिन्ना के घर हुईं। दुनिया को यह दिखाना कि महात्माजी उनसे मुलाकात के लिए इंतजार में बैठे रहते थे और उनको प्रसन्न करने के लिए आतुर थे, जिन्ना के गर्व और रणनीति, दोनों के अनुकूल था।

इन वार्ताओं का आधार वह सूत्र था जो आगे चलकर राजाजी सूत्र कहलाया। यह सूत्र उतना ही चतुराई भरा था जितना उसे तैयार करनेवाला, जिसके नाम पर इसका नाम पड़ा। यह देखने में तो मुसलमानों का यह दावा सिद्धांततया स्वीकार करता था कि वे एक अलग राष्ट्र हैं, मगर उनके एक पूरी तरह अलग राज्य की बात को स्वीकार नहीं करता था। लेकिन जिन्ना शह और मात के खेल के पुराने खिलाड़ी थे। इसलिए अपने दावे और अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाने के लिए यह सैद्धांतिक छूट पा लेने के बाद उनके लिए वार्ता का कोई महत्व नहीं रह गया था और वह टूट गई। महात्माजी या राजाजी की तमाम प्रखर बुद्धि और मानसिक कुशलता के बावजूद जिन्ना उनसे कहीं अधिक घाघ रणनीतिज्ञ निकले।

गतिरोध बना रहा और अंधेरा अशुभ की सीमा तक गहरा गया। कुंठा कटुता को बढ़ावा दे रही थी। गांधी जी के अनेक अनुयायी उनके बार बार वायसराय द्वारा ठुकराए जाने का विरोध करते थे और हिंदू राष्ट्रवादी उनके द्वारा जिन्ना के गर्व को बढ़ावा देने से तो और अधिक चिढ़ते थे। वे अपमान का अनुभव करते थे। इसमें शक नहीं कि स्वयं गांधी जी मनुष्य होने के नाते बार बार ठुकराए जाने पर आहत हुए बिना नहीं रहते थे, मगर वे अपमानित महसूस नहीं करते थे। जो आदमी अपनी आत्मा की अंतर्जात गरिमा से अलग कोई सम्मान नहीं चाहता और

न ही कोई निजी लाभ पाना चाहता है, उसके लिए कुछ भी अपमानजनक नहीं होता। जहां तक महात्माजी का विचार था, यह तो वायसराय था जो सभ्यता का अभाव दिखाकर अपने ऊंचे पद की गरिमा को कम कर रहा था, और ये जिन्ना थे जिन्होंने अपने दंभ और घमंड से खुद को गिरा लिया था।

दूसरों के उपहास से वे किस तरह अप्रभावित रहे, किस तरह वे न केवल दुर्भावना से मुक्त रहे बल्कि लोगों के हृदय की सर्वोत्तम भावनाओं को जगाने के बारे में हमेशा आशावान भी रहे, इसका पता एक पत्र से चलता है जिसे गांधी जी ने लगभग इसी समय चर्चिल को लिखा था :

प्रिय प्रधानमंत्री,

रिपोर्ट है कि आप एक सीधे-सादे 'नंगे फकीर' को कुचल देने की इच्छा रखते हैं। और लोग कहते हैं कि आप मुझे इसी नाम से याद करते हैं। मैं लंबे समय से एक फकीर बनने की इच्छा रखता आया हूं और वह भी नंगा—जो कहीं अधिक कठिन कार्य है। इसलिए मैं इस अभिव्यंजना को एक सम्मान समझता हूं, हालांकि अनिच्छित सम्मान। इसलिए मैं इसी रूप में आपसे संपर्क कर रहा हूं, और आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप अपनी और मेरी जनता और उनके माध्यम से पूरी दुनिया की जनता के कल्याण के लिए मेरा भरोसा और मेरा इस्तेमाल करें।

आपका सुहृदय मित्र
एम.के. गांधी

अनेक मोर्चों का सिपाही

गांधी जी अनेक मोर्चों के सिपाही थे। वे रणभूमि में अपनी पूरी पूरी कुशलता का परिचय देते थे और उन्होंने अनेक रणभूमियों को देखा था। अगर राजनीतिक युद्ध न चल रहा हो तो लड़ने के लिए दूसरे भी युद्ध थे। अब जबकि उनका स्वास्थ्य सुधर रहा था, वे खुद को राष्ट्र-निर्माण के कार्यों में अधिक समय और शक्ति लगाने के लिए स्वतंत्र महसूस करते थे क्योंकि यह क्षेत्र उनको राजनीति से अधिक प्यारा था। जैसे हरिजन कल्याण, ग्रामीण अर्थव्यवस्था की पुनर्रचना, जनता के लिए बुनियादी शिक्षा, राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी-हिंदुस्तानी का प्रचार, प्राकृतिक चिकित्सा के प्रयोग और कस्तूरबा स्मारक के अंग रूप में स्त्रियों और बच्चों के कल्याण और शिक्षा की एक व्यापक योजना का आयोजन, बेहतर हो कि ग्रामीण क्षेत्रों में।

उन्होंने ग्रामीण कार्यकर्ताओं की एक सभा से कहा था : 'स्वाधीनता आने वाली है। वह आ रही है। लेकिन मात्र राजनीतिक स्वाधीनता मुझे संतुष्ट नहीं कर सकती...अगर भारत मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता पाकर संतुष्ट रहता है और मेरे करने के लिए कुछ और बेहतर काम नहीं रहता तो आप देखेंगे कि जो लोग मेरी बात सुनना चाहते हैं उन्हें छोड़कर मैं संन्यास लेकर हिमालय की ओर चला जाऊंगा कि वे वहीं मेरी खोज करें।'

यह खोखली धमकी थी जिसे पूरी करने में वे असमर्थ थे। उनका ईश्वर तो सड़कों की धूल-धक्कड़ में था, न कि बर्फ से ढके हिमालय की धवल चोटियों पर। पहले उन्होंने मारिस फ्रीडमैन से कहा था : 'मैं ईश्वर को पाना चाहता हूं। और चूंकि मैं ईश्वर को पाना चाहता हूं, इसलिए दूसरों के साथ मिलकर उसे पाना चाहता हूं। मैं नहीं मानता कि मैं ईश्वर को पा सकता हूं। अगर मैं कर सका तो हिमालय की ओर भाग जाऊंगा कि वहां किसी गुफा में ईश्वर को पा सकूं, मगर चूंकि मेरा विश्वास है कि कोई भी व्यक्ति अकेले ईश्वर को नहीं पा सकता, इसलिए मुझे जनता के बीच रहकर काम करना होगा।'

यह सही है कि वे हमेशा अकेले चलते रहे—मगर भीड़ में और भीड़ के कल्याण के लिए। गुरुदेव का एक प्रसिद्ध गीत उन्हें बहुत प्यारा था : 'अगर कोई तुम्हारी पुकार का जवाब न दे तो एकला चलो रे।'

1945 के आने के साथ युद्ध भी अपने अंतिम चरण में पहुंच गया। मित्रराष्ट्रों की विजय लगभग निश्चित दिखाई देने लगी। एक दुखी और युद्ध से क्षत-विक्षत दुनिया के भविष्य पर विचार करने के लिए सान फ्रांसिस्को सम्मेलन शीघ्र होने जा रहा था। गांधी जी जानते थे कि प्रत्याशित विजय की पहली झलक पाकर ही पागल हो जाना कितना आसान था। इसलिए उन्होंने मित्रराष्ट्रों को एक सलाह दी जिसे मित्रराष्ट्र, जो अभी भी एक-दूसरे को धक्का देकर गिराने की कोशिशें कर रहे थे, सुनने के लिए तैयार नहीं थे। गांधी जी ने कहा: 'शांति न्यायपूर्ण होनी चाहिए। लेकिन न्यायपूर्ण होने के लिए शांति न तो दंडमूलक होनी चाहिए और न प्रतिशोधमूलक। जर्मनी और जापान को अपमानित नहीं किया जाना चाहिए। शक्तिशाली कभी प्रतिशोध नहीं लेते। इस प्रकार शांति की उपलब्धियों का समान वितरण होना चाहिए।' उन्होंने मित्रराष्ट्रों को यह याद भी दिलाया कि 'भारत की स्वाधीनता दुनिया की सभी शोषित जातियों को दिखाएगी कि उनकी स्वाधीनता बहुत पास है, और अब आगे किसी भी प्रकार उनका शोषण नहीं किया जा सकेगा।'

और जब भारत को स्वाधीनता मिली तो सचमुच ऐसा हुआ। इस बीच देश को उषा से पहले के बढ़ते अंधकार से गुजरना पड़ा। मित्रराष्ट्र आक्रामक स्थिति में थे। भारत में ब्रिटिश सरकार हावी थी। कांग्रेस के नेता जेल की सलाखों के पीछे सड़ रहे थे। भूमिगत हो जाने वाले कुछेक विद्रोही नेताओं की रोमानी आस्था को छोड़ दें तो पूरा राष्ट्र हताश और देखने में शांत दिखाई देता था। भारत में ब्रिटिश सत्ता खुद को निश्चित समझती थी। महात्मा के किसी भी संकेत को ठुकराने और वायसराय के साथ कांग्रेस की किसी प्रत्यक्ष वार्ता के साथ घात करने के लिए जिन्ना पर भरोसा किया जा सकता था। शिमला वार्ता के दौरान जिन्ना ने किया भी यही।

गांधी जी के पास जनता के मनोबल को बनाए रखने, उनकी आस्था को पुष्ट करने तथा उनकी शक्तियों को रचनात्मक गतिविधियों और आत्मनिर्भरता की विनम्र और शांत दिशाओं में मोड़ने के अलावा करने को और कुछ था भी नहीं। दीर्घकालिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो दिल्ली जानेवाला चौड़ा ट्रंक रोड नहीं, बल्कि हरेक भारतीय गांव तक जानेवाली ये कच्ची पगडंडियां ही जनता को स्वराज तक पहुंचाएंगी। जनता और खासकर देहातों में असहाय फंसी हुई, गूंगी-बहरी और भूखी जनता का स्वशासन ही गांधी जी के लिए स्वराज था, न कि मात्र राजनीतिक स्वतंत्रता या उनके शब्दों में गोरों की जगह कालों के राज की स्थापना। इसलिए वे देखने में रोजमर्रा के उन्हीं नीरस कामों में लगे रहे जिन्हें उनके 'क्रांतिकारी' सहयोगी और आलोचक बेसब्री से बूढ़ी दाई के काम कहकर हंसते थे। उनकी आस्था अटूट रही। उन्होंने कहा : 'मुझे पूरा विश्वास है कि अगर भारत को और

भारत के माध्यम से विश्व को सच्ची स्वाधीनता पानी है तो देर या सवेर इस सच्चाई को स्वीकार करना होगा कि लोगों को नगरों में नहीं, गांवों में और महलों में नहीं, झोपड़ों में रहना होगा। नगरों और महलों में करोड़ों लोग कभी आपसी शांति से नहीं रह सकेंगे। तब उनके पास हिंसा और असत्य, दोनों का सहारा लेने के अलावा कोई चारा नहीं रहेगा। मेरा विश्वास है कि सत्य और अहिंसा के बिना मानवता के विनाश के अलावा कुछ और नहीं होगा...दुनिया अगर गलत राह पर चलती है तो मेरे लिए डरने की कोई बात नहीं है। हो सकता है कि भारत भी उसी राह पर चल पड़े और आखिरकार मुहावरों वाले पतिंगे की तरह उसी लपट में जल मरे जिसके चारों ओर वह अधिकाधिक तांडव नृत्य कर रहा है। लेकिन अपनी आखिरी सांस तक भारत को और उसके द्वारा पूरी दुनिया को इस अंजाम से बचाने की कोशिश करना मेरा पवित्र कर्तव्य है।'

इस बीच कोई भी संवेदनशील कान सतह की घातक शांति के नीचे, आनेवाले तूफान की सनसनाहट सुन सकता था। हर जगह हिंसा और नफरत का अलाव सुलग रहा था। यूरोप तो खून में नहा चुका था और वहां की जनता शांति चाहती थी मगर तथाकथित शांति-भूमि एशिया में हालत इसकी उलटी थी। गहरे बैठी भावनाओं से लोग ऐंठ रहे थे और बदले के लिए कुलबुला रहे थे।

हमेशा की असंतुलित और अल्पविकसित भारतीय अर्थव्यवस्था युद्ध की लोलुप मांगों के कारण पूरी तरह तबाह हो चुकी थी। बंगाल पहले ही एक भयानक अकाल से नष्ट हो चुका था। अब उसका भूत पूरे भारत पर मंडरा रहा था। बेईमानों ने युद्ध के दौरान बेपनाह मुनाफे कमाए थे तथा गरीब और भी गरीब हुए थे। युद्ध के कठिन वर्षों के दौरान किसी भी कीमत पर निहित स्वार्थों का समर्थन पाने के बारे में सरकार की हताशाजनक चिंता ने उसे जनता के कल्याण के प्रति उदासीन बना दिया था, और उसे पता नहीं था कि उसका शासन कब तक चलेगा। मेरे बाद तो बस प्रलय ही होगी ! अधिकारियों ने आंखें मूंद ली थीं और व्यापार के उन तौर-तरीकों को बढ़ावा दे रहे थे जिन पर ग्रेट ब्रिटेन में राजद्रोह जितना कठोर दंड ही दिया जाता। वातावरण में भ्रष्टाचार और वहशीपन की बदबू फैली हुई थी।

गांधी जी ने इसे समझा। वे तूफान की सनसनाहट भी सुन रहे थे। वे दुखी और असहाय थे। लेकिन पीड़ा ने उनके मनोबल को कम नहीं किया और न ही असहायता उनकी पहलकदमी को समाप्त कर सकी। वे चलते रहे, पूर्वी और दक्षिणी भारत में जगह जगह भटकते रहे; जनता को अपने भाग्य के निर्माण के लिए प्रेरित करते रहे। उन्होंने बार बार कहा कि तुम्हारा भाग्य अंग्रेजों के नहीं, तुम्हारे अपने

हाथों में है। जैसे ही तुम दूसरों पर निर्भर रहना छोड़ दोगे, तुम्हें आजादी मिल जाएगी। यही स्वाधीनता एकमात्र सच्ची स्वाधीनता है और इसे कोई तुमसे नहीं छीन सकता।

बंगाल की यात्रा के दौरान वे शांतिनिकेतन भी पहुंचे। यह स्थान रवींद्रनाथ ठाकुर की यादों से विभूषित था। ये दोनों मित्र अकसर असहमति पर सहमत रहे और फिर भी एक दूसरे-से प्रेम, एक-दूसरे का सम्मान करते थे। फिर यह उनके प्रिय मित्र चार्ल्स फ्रीयर एंड्रयूज की यादों से भी पवित्र था जिन्हें उन्होंने 'दीनबंधु' नाम दिया था। चार साल पहले दोनों का स्वर्गवास हो चुका था। उन्होंने गुरुदेव को 'शाश्वत प्रकाश' कहा था और उन्हें दिए गए वचन की याद करके गांधी जी महाकवि द्वारा स्थापित विभिन्न शैक्षिक और अन्य संस्थाओं की गतिविधियों में गहरी दिलचस्पी ले रहे थे। शांतिनिकेतन में उन्होंने प्रस्तावित दीनबंधु स्मारक अस्पताल की आधारशिला रखी। उस समय गुरुदेव का गीत 'यहां है तेरी पादपीठ और वहां तेरे पैर हैं, जहां रहते हैं सबसे गरीब, सबसे हीन और बेसहारा लोग' गाया गया जो इस मौके के लिए बहुत ही उपयुक्त था।

खून भरी सुबह

अजीब बात यह है कि गांधी जी के अलावा ब्रिटिश जनता भी भारत पर मंडराते अशुभ खतरे को समझ रही थी। लेकिन शायद यह इतनी अजीब बात भी नहीं थी। कारण कि अंग्रेज जनता की बहुमुखी संवेदना की एक लंबी परंपरा है, वर्ना तो उन्होंने विश्व के इतिहास में जो भूमिका निभाई वे नहीं निभा सकते थे। एक भारी परीक्षा से चूर चूर मगर विजयी होकर निकलने के बाद ब्रिटिश जनता ने उस अंतःजात बुद्धि के सहारे जो एक पूरे जनगण में मुश्किल से मिलती है, जान लिया कि उनको देर या सवेर, बल्कि देर की बजाय सवेर ही, भारत पर शासन करने की 'महिमा' का त्याग करना होगा।

भारत अब कोई संपत्ति नहीं, बोझ बन चुका था। अब वह शाही तमगों की प्राप्ति का केंद्र न रहकर साम्राज्य के लिए अधिकाधिक खतरे पैदा करने लगा था। ब्रिटेन के ताज का यह सबसे चमकदार हीरा अब चुभनेवाला कांटा बन गया था। इसलिए ब्रिटिश जनता ने युद्ध के दौरान चर्चिल के कुशल नेतृत्व का एहसान जरूर माना मगर ब्रिटिश मतदाताओं ने उसके शांतिकालीन बांझ नेतृत्व को नकार दिया और लेबर पार्टी को शासन का अधिकार दिया। नए प्रधानमंत्री क्लेमेंट एटली की आरंभिक घोषणाओं में ही 'भारत में शीघ्र स्वशासन की स्थापना' का वादा भी शामिल था।

मार्च 1940 में तीन कैबिनेट मंत्रियों का एक उच्चाधिकार-प्राप्त दल भारत आया। इसका मकसद भारतीयों को व्यवस्थित और शांतिपूर्ण ढंग से शासन सौंपने की शर्तों और दशाओं पर तथा स्वयं भारतीयों द्वारा भारत के भावी संविधान की रूपरेखा बनाने के लिए आवश्यक व्यवस्थाओं पर भारतीय नेताओं और वायसराय से विचार करना था। घटनाओं का यह मोड़ इतना नाटकीय था कि भारतीय जनता तो क्या, नेता भी हैरानी के बोझ से लगभग दबकर रह गए। पहली निगाह में ये घटनाएं अविश्वसनीय लगीं। ब्रिटिश सरकार सचमुच भारत का शासन छोड़ना चाहती थी, यह बात इतनी उम्दा थी कि सही नहीं लगती थी।

अधिकांश भारतीय अभी भी ब्रिटेन के इरादों को लेकर शंकित थे और सोचते थे कि ये घाघ शासक अब कोई और घिनावना खेल खेलना चाहते थे। यहां

तक कि हठ के साथ तीन साल पहले अंग्रेजों से देश छोड़ने की मांग करने वाले गांधी जी भी भौंचक्के रह गए और इसके प्रभाव से उन्हें कुछ कम धक्का नहीं लगा। जैसा कि उन्होंने एक ब्रिटिश मित्र के आगे स्वीकार किया था : 'मेरा विश्वास है कि इस बार अंग्रेज सचमुच कुछ करना चाहते हैं। लेकिन यह प्रस्ताव एकाएक आया। क्या भारत झटकों के साथ स्वतंत्रता प्राप्त करेगा ? मैं खुद को आज उस मुसाफिर की तरह महसूस करता हूं जिसे तूफानी समुद्र में जहाज की डेक पर बास्केट चेयर में बिठा दिया गया हो और जिसे पैरों तले धरती का पता न हो।'

हाल ही में गांधी जी ने पूना के निकट एक गांव में प्राकृतिक चिकित्सा केंद्र खोला था और इस समय वे वहीं के कार्यकलापों का संचालन कर रहे थे। प्राकृतिक चिकित्सा उनकी सबसे पहली धुन भी थी और साथ ही सबसे हाल की धुन भी। लेकिन वे कैबिनेट मिशन की प्रार्थना पर विचारविमर्श करने और सलाह देने दिल्ली आए। वे एक भंगी बस्ती के एक झोपड़े में रहे जो छोटे-बड़े, सबके लिए तीर्थ और भेंट-मुलाकात का केंद्र बन गया।

लेकिन दुर्भाग्य से अपनी बेहतरीन इच्छाओं के बावजूद और अपनी समस्त राजनीतिक पटुता और कूटनीतिक कुशलता के बावजूद ये तीन घिसे हुए ब्रिटिश कैबिनेट मंत्री यानी क्रिप्स, पेथिक-लारेंस और अलेक्जेंडर कांग्रेस और जिन्ना को एक मंच पर नहीं ला सके। तब कांग्रेस के अध्यक्ष एक प्रमुख मुस्लिम विद्वान और देशभक्त मौलाना आजाद थे और अगर इस्लाम ही कसौटी हो तो वे उस जिन्ना से कहीं अधिक प्रामाणिक मुसलमान थे जो मुश्किल से कुरान पढ़ पाता था। लेकिन इस वैपरीत्य के विरोधाभास ने ही जिन्ना को और अक्खड़ और अनुदार बना दिया। उसने कहा कि भारत को एक राष्ट्र माननेवाला कोई मुस्लिम सवर्ण हिंदुओं के कठपुतले के अलावा कुछ हो नहीं सकता।

इस घिनावने गतिरोध की हालत में गांधी जी ने मजबूर होकर मिशन से कहा कि वह अपनी खुद की एक योजना तैयार करे और वह परस्पर विरोधी पक्षों के बीच विचार विमर्श का आधार हो। उनके लिए यह सुझाव देना ही अपमानजनक था क्योंकि वे हमेशा कहते आए थे कि अंग्रेज न रहें तो मुसलमानों, हिंदुओं और दूसरे भारतीय समुदायों के हितों में कहीं कोई टकराव न रहे।

16 मई को कैबिनेट मिशन ने अपनी योजना घोषित की और यह उतना ही बुद्धिसंगत समझौता था जितना उन हालात में संभव था। यह समझौता एक ओर 'भारत की एकता के प्रति मुस्लिम लीग के समर्थकों से बाहर पाई जानेवाली लगभग सार्वभौम इच्छा' और 'मुसलमानों की इस सही और भयानक चिंता के बीच था कि वे एक स्थायी हिंदू-बहुसंख्यक शासन के अधीन हो जाएंगे।' नवनिर्वाचित प्रांतीय विधायिकाओं द्वारा निर्वाचित सदस्यों वाली राष्ट्रीय संविधान सभा एक संविधान तैयार करे ; तब तक के लिए वायसराय एक अंतरिम राष्ट्रीय सरकार का

गठन करेंगे।

सभी समझौता-योजनाओं की तरह इस योजना की व्यावहारिकता भी देश की दो प्रमुख पार्टियों की सदिच्छा पर निर्भर थी। गांधी जी ने घोषणा की कि चार दिनों तक इसकी धाराओं की गहरी छानबीन करने के बाद उन्हें विश्वास हो गया था कि 'उन परिस्थितियों में यह वह बेहतरीन दस्तावेज है जो ब्रिटिश सरकार पेश कर सकती है।' मगर दूसरी ओर जिन्ना ने योजना की आलोचना उसके 'सतही और तिरस्कृत तर्कों' के कारण की और जोर देकर कहा कि पाकिस्तान ही एकमात्र समाधान है।

फिर भी कांग्रेस और मुस्लिम लीग, दोनों ने बाद में इस योजना को स्वीकार किया हालांकि दोनों में से कोई भी पार्टी इससे पूरी तरह संतुष्ट नहीं लगती थी। लेकिन वे एक कामचलाऊ राष्ट्रीय सरकार के गठन पर सहमत नहीं हुईं। जिन्ना के अक्खड़पन से तंग आकर वायसराय ने 12 अगस्त को सरकार बनाने के लिए जवाहरलाल नेहरू को आमंत्रित किया। कुंठित होकर और आवेश में आकर जिन्ना ने 16 अगस्त को 'सीधी कार्रवाई का दिन' घोषित कर दिया।

इस प्रकार पूरब के आसमान पर भारतीय स्वाधीनता की खून भरी सुबह फूटी। बंगाल में मुस्लिम लीग का मंत्रिमंडल था। इसलिए सीधी कार्रवाई के लिए लीग का आह्वान, धर्म के नाम पर और लगभग पूरी तरह सरकारी तत्वावधान में, मुस्लिम शरारतपसंदों को बदतरीन कामों को करने का खुला उकसावा देने के बराबर था। बहुत पहले ही हथियार बांटे जा चुके थे और सारी तैयारियां पूरी हो चुकी थीं। कत्ल, लूट और तबाही तथा हिंदू स्त्रियों के साथ बलात्कार का तांडव शुरू करने के लिए सिर्फ एक आह्वान की जरूरत थी। फिर यही सब सचमुच हुआ। कलकत्ता नगर नरक बन गया। इतने घिनावने कृत्य हुए और बेगुनाह स्त्रियों और बच्चों पर इतने भयानक जुल्म ढाए गए कि उस समय ब्रिटिश स्वामित्व वाले और कांग्रेस-विरोधी पत्र **दि स्टेट्समैन** तक को संपादकीय में टिप्पणी करनी पड़ी : 'यह दंगा नहीं है। इसके लिए मध्यकालीन इतिहास में प्रचलित एक शब्द की जरूरत है; यह एक पागलपन है।' उसी पत्र में लिखते हुए किम क्रिस्टन ने स्वीकार किया था : 'मेरा मेदा एक युद्धकालीन अस्पताल के अनुभवों से मजबूत बना है, मगर युद्ध तो कभी इस तरह का नहीं रहा।'

आरंभिक धक्के से उबरने के बाद तथा अपनी स्त्रियों और बच्चों पर हुए अत्याचारों से पागल होकर कलकत्ता के हिंदुओं ने और भी भयानकता के साथ जवाबी हमला किया। पूरा नगर इस प्रकार दोतरफा पागलपन के थपेड़ों की चपेट में आ गया। सरकार के आधिकारिक संरक्षण के बावजूद कलकत्ता के हिंदुओं के हमलों को सहने में नाकाम रहकर मुस्लिम लीग ने जवाब में पूर्वी बंगाल के नोआखाली जिले में तबाही, बलात्कार और लूटपाट का तूफान मचा दिया जहां

मुसलमान भारी बहुमत में थे। इस प्रकार हिंसा और अत्याचारों का एक सिलसिला शुरू हो गया जिसने पूर्व से पश्चिम तक पूरे देश में आग लगा दी।

भारत को युद्ध के दौरान जिन मुसीबतों का सामना नहीं करना पड़ा था, वैसी मुसीबतें अब और भी भयानकता के साथ और हजारों गुना घिनावने रूपों में—साहस से रहित तबाही के, शौर्य से रहित घृणा के, बलिदान से रहित पाशविकता के रूपों में—सहनी पड़ीं। अहिंसा का गर्व शर्म के मारे मर गया; बुद्धिमता की आवाजें नफरत की चीखपुकार में दब गईं, तथा स्वतंत्रता का मीठा फल कड़वा हो गया और पकने से पहले ही दो टुकड़ों में बांट दिया गया। भारतीय इतिहास के इस भीषण पाप का प्रायश्चित कौन करेगा ?

इस बीच वायसराय ने जिन्ना को फुसलाकर मुस्लिम लीग को अंतरिम राष्ट्रीय सरकार में शामिल होने के लिए तैयार कर लिया था। लेकिन मुस्लिम लीग सरकार में केवल उसे अंदर से तोड़ने के लिए शामिल हुई ताकि दुनिया को दिखा सके कि 'दो राष्ट्रों' की कोई 'राष्ट्रीय' सरकार संभव ही नहीं है।

एकाकी प्रायश्चित

गांधी जी अपने सेवाग्राम आश्रम में थे जब 'कलकत्ते के कत्ले-आम' की खबर उन तक पहुंची। उनकी प्रतिक्रिया महात्मा-पद के अनुकूल ही थी। मर्त्य मानव के लिए अत्यधिक शौर्यपूर्ण इस प्रतिक्रिया ने उनके सहधर्मियों को उनसे विमुख करने की प्रक्रिया को लाजिमी बना दिया जिसका दुखद अंत उनकी शहादत के साथ हुआ। उन्होंने कहा : 'अगर एक एक हिंदू सायास साहस के साथ कट मरा होता तो वह हिंदुत्व और भारत की मुक्ति का तथा इस देश में इस्लाम की शुद्धि का दिन होता।' दूसरे शब्दों में उन्होंने हिंदुओं से मुसलमानों के पापों का प्रायश्चित करने का आह्वान किया। उन्होंने मुसलमानों से अपने पापों का प्रायश्चित करने को नहीं कहा।

मुसलमानों ने खुलकर उनका मखौल उड़ाया। अधिकांश हिंदू कम से कम उनकी बात आदर के साथ सुनते थे, भले ही वे आपस में झुंझलाते और चिढ़ते रहे हों। लेकिन उनसे सामूहिक मृत्यु के लिए खुद को प्रस्तुत करने के अवसर का स्वागत करने की शायद ही उम्मीद की जा सकती थी। गांधी जी इतने यथार्थवादी जरूर थे कि इस बात को समझ सकें। मगर पाप का प्रायश्चित तो अवश्य था। इसे कौन करे ? आखिर में महात्मा को ही हिंदू-मुसलमान, दोनों के पापों का प्रायश्चित करना पड़ा।

जब एक हफ्ते तक बंगाल सरकार द्वारा दबा-छिपाकर रखे जाने के बाद नोआखाली की तबाही की खबर आखिरकार फूटी तब गांधी जी दिल्ली में थे। गांधी जी के हृदय को जीवहत्या से अधिक स्त्रियों के अपहरण और बलात्कार की खबरें चीर रही थीं। उन्होंने बंगाल जाने का निश्चय कर लिया। उन्होंने स्वीकार किया : 'मैं नहीं जानता कि मैं वहां क्या कर पाऊंगा। मैं कुल इतना जानता हूं कि वहां गए बिना मैं शांति नहीं पा सकूंगा।'

नोआखाली जाते समय गांधी जी स्थिति का जायजा लेने और मुस्लिम लीगी मुख्यमंत्री सुहरावर्दी का सौहार्द जीतने के लिए कुछ समय कलकत्ता में रुके। उन्होंने स्पष्ट किया कि वे मुस्लिम लीग मंत्रिमंडल के खिलाफ सुबूत जमा करने या किसी समुदाय के बारे में फैसला सुनाने के लिए बंगाल नहीं गए थे बल्कि हिंदुओं के हृदय में साहस का संचार करने और दोनों समुदायों को सहिष्णुता का पाठ पढ़ाने

आए थे ताकि वे आगे भी अच्छे पड़ोसियों की तरह रहें जैसे सदियों से रहते आए थे।

कलकत्ता की सड़कें अभी भी हाल की तबाही के बदबू देते ढेरों से पटी पड़ी थीं। इससे 'उस आम पागलपन के बारे में सोचकर उनका दिल बैठने लगा जो आदमी को जानवर से भी बदतर बना सकता है।' हमेशा के आशावादी गांधी जी को अभी तक बेउम्मीदी के बीच भी उम्मीद थी कि वे करुणा के आंसुओं के सहारे राजनीतिक आवेश और धार्मिक घृणा के लपकते शोलों को ठंडा कर सकेंगे।

उनका विचार था कि अगर वे भयरहित होकर, बिना किसी सुरक्षा के और दिल में करुणा लेकर इस भयानक जंगल में घूम-फिर सकें तो मुसलमानों के बीच रहकर और खुद को उनके रहम पर छोड़कर वे उन्हें विश्वास दिला सकेंगे कि वे उसी तरह उनके भी मित्र और शुभचिंतक हैं जैसे शेष भारत के हैं। उनको अपने बीच पाकर भयभीत और हताश हिंदू साहस का अनुभव करेंगे और अपने उजड़े हुए घरों में लौट सकेंगे।

यह मूर्खता, भय और घृणा के उठते तूफान को साहस, बुद्धिमता और करुणा के शब्दों से शांत करने का एक हताशाजनक और शौर्यपूर्ण प्रयास था। इस यज्ञ के मंत्रों की शक्ति में हिंदुओं की सदियों पुरानी आस्था थी। यह शौर्यपूर्ण था और सौंदर्यपूर्ण था; काश कि उनकी शक्ति को सिद्ध करनेवाले पुराने देवता भी रहे होते !

नोआखाली जाने के लिए गांधी जी अभी कलकत्ता से चले भी नहीं थे कि बिहार से भयानक खबरें मिलीं कि क्रुद्ध हिंदुओं की भीड़ ने कलकत्ता और नोआखाली के मुसलमानों की पाशविकता को भी पीछे छोड़ दिया था। गांधी जी को अपार धक्का लगा और उनका दिल दुख और शर्म से कराह उठा। कारण कि वे बिहार से प्रेम करते थे जो भारत में उनके पहले सफल सत्याग्रह की भूमि था। फौरन ही उन्होंने घोषणा की कि वे दंडस्वरूप 'कम से कम संभव भोजन पर' रहेंगे और यह कि अगर 'गलती कर रहे बिहारी एक नया पृष्ठ आरंभ नहीं करते तो' यह आधा अनशन 'मरणव्रत' भी बन सकता है।

यह एक सच्चाई है, और इसका एक महत्व भी है, कि गांधी जी ने अपने लंबे सार्वजनिक जीवन में अनेक अनशन किए थे और उनके अनशन या तो उनके अपने लोगों (अपने आश्रमवासियों या सामान्य रूप से हिंदुओं) के खिलाफ थे या फिर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ थे। उन्होंने मुसलमानों के खिलाफ कभी कोई अनशन नहीं किया जो उनकी कुंठा के सबसे बड़े कारण थे और जो उनके कष्टों और बलिदान से सबसे अधिक लाभान्वित हुए।

इस प्रकार आधा अनशन करते हुए और दिल में चिंता लिए गांधी जी नोआखाली के लिए चल पड़े। वे अकेले, बिना किसी मददगार के नहीं थे जैसी

कि उनकी इच्छा थी। उनको एक विशेष रेलगाड़ी से यात्रा करनी पड़ी और उनके साथ उनके निजी अमले के अलावा बंगाल सरकार का एक मंत्री और दो संसदीय सचिव भी थे। नैतिक और प्रतीकात्मक अर्थों को छोड़ उनके लिए 'एकला चलना' असंभव था। हर जगह रास्ते में उनके दर्शन के लिए या जिज्ञासावश भीड़ जमा हो जाती। यह भीड़ इतनी विशाल और उच्छृंखल होती कि विशेष सुरक्षा न होती तो मात्र लोगों के आदर-भाव के कारण वे कुचलकर मर जाते।

पूर्वी बंगाल (अब बंगलादेश) में नदियों और नहरों का जाल-सा बिछा हुआ है। इसलिए उन्हें रेलों, कारों, मोटरबोटों या देसी नावों से यात्रा करनी पड़ी। रास्ते के अनेक गांवों से गुजरते हुए गांधी जी ने अपनी आंखों से झुलसे हुए अवशेष देखे जहां कभी हंसते-बोलते घर और मनुष्य रहे होंगे। उन्होंने कभी की गर्वपूर्ण और सुखी स्त्रियों की जिंदा लाशें भी देखीं। उन्होंने अपने निजी अमले के सदस्यों, घनिष्ठ सहयोगियों और शिष्यों को विभिन्न गांवों में फैला दिया कि वे वहां अकेले और बिना किसी मददगार के रहें, बचे हुए हिंदुओं में साहस का संचार करें और मंडराते मुसलमानों को शर्म दिलाएं।

वे एक गांव से गुजरे जहां के लगभग सभी हिंदू घर जला दिए गए थे और अधिकांश पुरुष सदस्य मार डाले गए थे। जब वे इस भयानक दृश्य को देखते हुए आगे बढ़े तो एक तिब्बती स्पेनियल कुत्ता, जिसे कुछ दिनों से भूत की तरह वहां आसपास भटकते देखा गया था, रिरियाते हुए गांधी जी के पास आया और उनको कहीं ले जाने की कोशिश करने लगा। गांधी जी उसके पीछे चलते हुए ऐसी जगह पहुंचे जहां तीन इंसानी ढांचे, अनेक खोपड़ियां और हड्डियां पड़ी हुई थीं। कुत्ते के मालिक और उसके परिवार पर जो कयामत टूटी थी, ये उसके भयानक अवशेष थे। जब भी रोती हुई ऐसी स्त्रियां गांधी जी के सामने आतीं जिन्होंने अपने पतियों, भाइयों और बेटों को मारे जाते और अपनी बेटियों की इस्मत लुटते देखा था, तो गांधी जी का हृदय दुख और शर्म से कराह उठता। वे उन्हें भला क्या तसल्ली देते ? उन्होंने सच्चाई के साथ उनसे कहा कि वे उनको तसल्ली नहीं, साहस दिलाने के लिए वहां आए थे।

उन्होंने अपना मुख्यालय श्रीरामपुर गांव में बनाया जहां मूल 200 में से सिर्फ तीन हिंदू परिवार बचे थे। वे अपने बंगाली सचिव और दुभाषिए निर्मलकुमार बोस और अपने स्टेनोग्राफर परशुराम के साथ रुके। बाद में वहां मनु भी आ गई। वे गांधी जी के भाई की पौत्री थीं जिन्हें वे प्रेम से अपनी पौत्री कहते थे।

वे वहां लगभग छह सप्ताह ठहरे। उन्होंने अपने भोजन और निद्रा को भी घटाकर न्यूनतम तक कर दिया। वे दिन के समय पास-पड़ोस के घरों और गांवों में जाते, साहस और आस्था के शब्दों से पीड़ित लोगों को आराम पहुंचाते और क्रूर मुसलमानों को शर्म करने के लिए समझाते-बुझाते। वे कहते कि बदी का बदला

नेकी से देना ही एकमात्र मानवोचित प्रतिकार है। रात का कुछ हिस्सा काम में लग जाता कि पत्राचार का काम बड़ा भारी था और इस क्षेत्र के दुर्गम होने के बावजूद पास-दूर के मुलाकातियों का तांता लगा रहता था।

दिल्ली के राजनीतिक वातावरण में गलतफहमी और शंका की गहमागहमी थी और गांधी जी की राय लगातार मांगी जा रही थी। दिसंबर के आखिरी सप्ताह में तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष आचार्य कृपलानी को साथ लेकर जवाहरलाल नेहरू खुद ही वहां सलाह-मशविरे के लिए पहुंच गए। कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार का बड़ा त्रिकोण ही कांटों की सेज नहीं बना हुआ था बल्कि खुद कांग्रेस हाईकमान के अंदर खींचतान, झगड़े और गलतफहमियां मौजूद थीं। यहां तक कि गांधी जी के निजी अमले के थोड़े-से 'अनुशासित' और 'समर्पित' कार्यकर्ता भी जो अब पड़ोसी गांवों में बिखरे हुए थे, इन इंसानी कमजोरियों से मुक्त नहीं थे। गांधी जी को इन सबकी मार झेलनी पड़ती थी।

वे बेचैन और चिंतित थे। उन्होंने हमेशा मन की एकाग्रता को पाने की कोशिश की थी जिसका उपदेश गीता देती है, और कहा था : 'चूंकि मैं जानता हूं कि सुख और दुख एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, इसलिए मैं दोनों से अप्रभावित रहता हूं और ईश्वर की आज्ञा के अनुसार कर्म करता हूं।' यह एक शौर्यपूर्ण आस्था थी मगर हमेशा कारगर नहीं होती थी, जैसा कि उनके साथ रहनेवालों और उनकी सेवा करनेवालों की गवाही कहती है। यहां तक कि खुद गांधी जी की अपनी डायरी की कुछ गूढ़ प्रविष्टियां इसकी साफ गवाही देती हैं। वे 26 दिसंबर 1946 को लिखते हैं : 'सब कुछ गड़बड़ाता हुआ लगता है। चारों ओर झूठ का अंबार लगा है।' 2 जनवरी 1947 की प्रविष्टि और भी मुखर है : 'दो बजे सुबह से जगा हुआ हूं। केवल ईश्वर की कृपा मुझे जीवित रखे हुए है। मैं देख रहा हूं कि मेरे अंदर कहीं कोई भारी दोष है जो इन सबका कारण है। मेरे चारों तरफ घोर अंधकार है। कब मुझे ईश्वर इस अंधकार से निकालकर अपने प्रकाश में ले जाएगा ?'

उसी दिन सुबह श्रीरामपुर का शिविर तोड़ दिया गया और गांधी जी पैदल गांव गांव भटकने लगे। अतिरिक्त दंड के रूप में अब उन्होंने पैरों के सैंडिल भी त्याग दिए। उन्हें प्रतीकस्वरूप ही नहीं; शब्दशः नंगे पांव चलना होगा। उनके जीवनी-लेखकों ने इस अभियान के दौरान उन्हें 'अकेला तीर्थयात्री' और 'नंगे-पांव तीर्थयात्री' कहा है। हालांकि तीर्थयात्रा किसी धार्मिक स्थल की की जाती है न कि किसी अपवित्र कसाईखाने की, लेकिन स्वयं गांधी जी ने अपने प्रार्थना-पश्चात भाषणों में से एक भाषण में इस अभियान को तीर्थयात्रा कहा है। कवयित्री सरोजिनी नायडू तब शांतिनिकेतन की यात्रा पर थीं। वहीं से उन्होंने गांधी जी को लिखा था : "प्यारे तीर्थयात्री, तुम्हारी प्रेम और आशा की इस तीर्थयात्रा में तुम, जैसा कि एक खूबसूरत स्पेनी कहावत है, 'ईश्वर के साथ चलो'।"

वे तड़के सुबह इस अभियान पर निकले तो उस समय मौके के लिए मुनासिब तौर पर वे गुरुदेव का प्रिय गीत गा रहे थे जो उन्हें बहुत प्रिय था : 'अगर कोई तुम्हारी पुकार नहीं सुनता तो एकला चलो...अगर भय के मारे कोई नहीं बोलता तो एकला बोलो...अगर सब साथ छोड़ जाएं तो एकला चलो...कांटों पर और खून से सनी राहों पर, एकला चलो...'

अकेलेपन की यात्रा

उस पानी लगे डेल्टा क्षेत्र में कोई सड़कें नहीं थीं, न कोई बने-बनाए रास्ते थे। बांस के फिसलनदार डंडों को बांधकर पुल बनाए गए थे। जिन पर भारी सावधानी से और संभल-संभलकर चलना पड़ता था। कहीं कहीं तो रास्ता इतना संकरा था कि एक की कतार में ही चला जा सकता था।

क्षेत्र में गांधी जी की मौजूदगी ने शरारती मुसलमानों की और अधिक लूट, बलात्कार और तबाही की चालों को नाकाम बना दिया था। उन्होंने न सिर्फ उनकी सभाओं का बहिष्कार किया बल्कि उनकी यात्रा को यथासंभव कठिन और दुखद बनाने के लिए जो कुछ कर सकते थे, किया। जिस रास्ते पर से गांधी जी को गुजरना होता था उस पर मलमूत्र फेंक दिए जाते थे और वे सूखे पत्तों का कामचलाऊ झाड़ू बनाकर सब्र के साथ गंदगी को खुद साफ करते। देहातियों की भीड़ बेसरोकार आसपास खड़ी रहती और इस 'तमाशे' को देखती।

यह सचमुच एक तीर्थयात्रा थी जिसने तीर्थयात्री की सहनशक्ति, धैर्य और समर्पण-भाव की कड़ी से कड़ी परीक्षा ली।

यह गांधी जी के जीवन की शानदार किताब का शायद सबसे शानदार अध्याय है। जिस समय बहुप्रतीक्षित राजनीतिक स्वाधीनता मोड़ पर खड़ी थी और वे चाहने पर राजसत्ता की बागडोर संभाल सकते थे, ठीक उसी समय उन्होंने उससे मुंह मोड़ लिया था और एक निराशाजनक ध्येय लेकर उसके खतरों से जूझने के लिए ऐसे इलाके में जा पहुंचे थे जो शीघ्र ही विदेश बन गया, और जो तब भी 'दुश्मन का खेमा' था, ताकि वहां आतंक और घृणा के बियाबान में साहस और करुणा का झंडा फहरा सकें। 77 की आयु में, गिरते स्वास्थ्य और अपर्याप्त भोजन के सहारे वे नंगे पांव एक दुर्गम और अंजान देहाती क्षेत्र से होते हुए, बांस के नाजुक पुलों पर से होकर गांव गांव भटके जबकि दुश्मन की घातक निगाहें उनकी एक एक गति पर निगरानी रखे हुए थीं।

रोज रोज करके, सैकड़ों अलग अलग तरीकों से उन्होंने एक ही बात दुहराई : परमात्मा के नाम पर जो मुसलमानों का अल्लाह और हिंदुओं का ईश्वर है, एक दूसरे का भाई बनकर रहो जैसा कि वह चाहता है। मरना पड़े तो मरो लेकिन मारो

मत। मृत्यु अपमान से श्रेयस्कर है।

लेकिन उनके जीवन का यह सबसे शानदार अध्याय सबसे अधिक दिलशिकन भी था। उनके अनेक अभियानों में यह सबसे बहादुराना अभियान ही सबसे कम कामयाब रहा। यह सही है कि वे अपनी शानदार शहादत की सीढ़ी पर एक अकथनीय ऊंचाई तक ऊपर उठ गए, लेकिन वे जिनको बचाने की आशा रखते थे उनको बचा नहीं सके।

यहां-वहां अंतरात्मा की चुभन के बावजूद मुसलमानों ने कोई पछतावा नहीं किया। वास्तव में वे अधिकाधिक उग्र और क्रूर होते चले गए, और उनसे मांग करते रहे कि वे उनका देश छोड़कर बिहार चले जाएं जहां उनकी अधिक जरूरत थी।

हिंदुओं को आतंक से थोड़ी राहत तो मिली लेकिन यह राहत से अधिक कुछ भी नहीं थी। गांधी जी चाहते थे कि वे लोग वहीं रहें मगर वे जब तक वहां रहेंगे, बहुसंख्यकों के आगे असहाय और उनके रहम पर रहेंगे। जो बहादुर थे उनको थोड़ा-बहुत साहस अवश्य प्राप्त हुआ, मगर दुर्भाग्य से ऐसे लोग बहुत नहीं थे।

इस अभियान में गांधी जी के साथी रहे निर्मल कुमार बोस ने ऐसे एक प्रशंसनीय पात्र का उदाहरण दिया है जिससे जगतपुर गांव में भेंट हुई थी, जहां गांधी जी ने 10 जनवरी को स्त्रियों की एक सभा को संबोधित किया था। सभा के बाद गांधी जी ने बोस से उन स्त्रियों के बयान दर्ज करने को कहा जिनका अपहरण और बलात्कार किया गया था। भयभीत स्त्रियों से बिना दुराव-छिपाव के कुछ कहलवाना आसान नहीं था। लेकिन एक बहादुर लड़की थी जिसने ऐसा किया और सब कुछ कह सुनाया। अगली सुबह बोस उस लड़की की मां से मिलने गए। उनका अपना घर जल चुका था और एक सहृदय पड़ोसी ने मां-बेटी को आश्रय दिया था। यह एक बहादुर युवक था। जो उस लड़की से प्यार करता था और उससे विवाह करने का इच्छुक था।

बोस लिखते हैं : "मां की अनुमति लेकर मैं लड़की को उसके उजड़े घर में ले गया। वहां पहुंचकर हमने और कुछ नहीं बल्कि नंगे चबूतरे और जली हुई लकड़ी के कुछेक टुकड़े यहां-वहां बिखरे हुए देखे। लोहे की सभी चादरें मुस्लिम ग्रामवासी निकाल ले गए थे। वह जगह जहां उसके दो भाई कत्ल के बाद आग में फेंक दिए गए थे, बाग की रविश की बगल में थीं, और वहां से मैंने कोयले के बीच हड्डियों के कुछ जले हुए टुकड़े उठाए। लड़की ने मुझे बतलाया कि किस तरह दंगाई आए, उन्होंने क्या किया, वगैरह वगैरह; और फिर मैंने यह सवाल किया : क्या वह फिर एक बार यहां आकर ऐसे दृश्यों के बीच रह सकती है जिन्हें वह कभी भूल नहीं सकती ? लड़की कुछ देर खामोश रही और फिर दूर खेतों पर निगाहें जमाए हुए धीरे-से बोली : 'हां, मैं रह सकती हूं। वे अब मेरा क्या कर

सकते हैं ? जो कुछ उनके बस में था, वे कर चुके हैं, और अगर वे फिर आते हैं तो शायद मैं भी मरकर अपनी रक्षा करना सीख जाऊं'।"

दो माह तक रोज रोज नंगे पांव, गांव गांव भटकने के बाद 2 मार्च 1947 को गांधी जी बिहार के लिए चल पड़े जहां से हिंदुओं के प्रतिशोध से पीड़ित मुसलमानों की आर्तनाद उनका दिल चीर रही थी। यहां उत्पात के बंद न होने पर मरणव्रत रखने की उनकी धमकी, प्रांत में नेहरू की यात्रा और अराजकता पर नियंत्रण पाने के लिए किए जानेवाले कठोर उपायों ने वांछित परिणाम पैदा किया था। मगर यहां व्यापक और असीम तबाही मची थी तथा पीड़ितों को फिर से बसाने और फिर से विश्वास पैदा करने की समस्याओं का समुचित समाधान अभी बाकी था।

नोआखाली में परिवेश शत्रुतापूर्ण था और गांधी जी को सावधानी से अपना रास्ता चुनना पड़ता था। मुसलमान शंकित और क्रूर थे, और गांधी जी उनके दोष गिनाकर उनको आगे उत्तेजित नहीं करना चाहते थे। उन्होंने बड़े कष्ट के साथ यह समझाना चाहा था कि वे उनके आचरण का फैसला करने नहीं आए थे। हिंदू दबे हुए थे और कई एक तो खुलकर बोलने से भी डरते थे। गांधी जी उनको बहादुर बनने की प्रेरणा देने, ईश्वर पर भरोसा रखने और अपने साथ हुई ज्यादतियों को क्षमा करने की बात समझाने के अलावा कुछ और शायद कर भी नहीं सकते थे।

बिहार में स्थिति उलटी थी और शर्मिंदा मुसलमानों को होना पड़ा। यहां गांधी जी न तो दबकर बोले और न ही मुसलमानों के प्रति उनकी दया पर कोई बंधन था। बहुसंख्यक संप्रदाय और कांग्रेसी मंत्रियों पर उनका क्षोभ भी असीम था। यहां वे खुद को अधिक मजबूत आधार पर पाते थे। वे अपने लोगों को झिड़क ही नहीं सकते थे बल्कि उनसे अपने पापों के लिए भरपूर प्रायश्चित करने की मांग भी कर सकते थे। नोआखाली के विपरीत यहां वे श्रद्धालुओं की भीड़ से घिरे रहते थे जो बेघर होनेवालों को राहत पहुंचाने के लिए उनके आगे पैसे का ढेर लगा देते थे। अनेक स्त्रियों ने अपनी मुस्लिम 'बहनों' की सहायता के लिए अपने जेवरात दे दिए। लेकिन इस वैपरीत्य से प्रभावित और लज्जित होने की जगह मुसलमान अधिक बदमिजाज और अपनी मांगों के बारे में और धृष्ट बन गए। उन्होंने गांधी जी के धीरज के बांध को लगभग तोड़ ही डाला। गांधी जी एक बार तो बिफर पड़े : 'क्या मुसलमान चाहते हैं कि मैं नोआखाली में उनके किए हुए पापों की चर्चा न करूं और सिर्फ बिहार में हिंदुओं द्वारा किए गए पापों की बात कहूं ? अगर मैं ऐसा करता हूं तो मैं कायर हूंगा। मेरे नजदीक मुसलमानों और बिहार के हिंदुओं के पाप एक समान गंभीर हैं और एकसमान निंदनीय हैं।'

रावलपिंडी और पंजाब से हिंदुओं की बुरी हालत की दिल दहलानेवाली

कहानियां सुनने में आ रही थीं और गांधी जी की मौजूदगी न रही होती तो संभव था कि बिहार के हिंदू एक बार फिर प्रतिशोध की आग में पागल हो उठते। उन्होंने उनसे कहा : 'अगर आप सब फिर एक बार पागल बने तो आपको पहले मुझे समाप्त करना होगा।'

आखिर में सचमुच यही दुखद घटना तो घटी हालांकि गोली चलानेवाला हाथ किसी बिहारी का नहीं था। लेकिन अशुभ संकेत पहले से मौजूद थे। गांधी जी का तरीका जो कभी रामबाण हुआ करता था, कहीं न कहीं, किसी न किसी प्रकार गलत साबित हो गया था। यह मुसलमानों का दिल जीतना तो दूर, हिंदुओं को भी विमुख कर रहा था।

गांधी जी को अपनी सीमा से बाहर जाकर मुसलमानों को खुश करने की कोशिश करते और बदले में उलटा नतीजा सामने आते देखना दुखद था। जैसा कि हमेशा होता है, लाड़-दुलार पानेवाले और अधिक लोभी और आक्रामक हो उठे थे। वे उनकी सुरुचि को जितना उभारने की कोशिश करने, वे लोग उनकी अंतरात्मा को उतना ही अधिक ब्लैकमेल करते। इससे हिंदुओं में गांधी जी और मुसलमानों, दोनों के खिलाफ और अधिक कड़वाहट पैदा हुई। यह सब एक दुष्चक्र के समान था।

बहादुरों की इज्जत बहादुर ही करते हैं। गांधी जी ने अंग्रेजों का सामना किया और उनसे लड़े। वे उनके प्रति सहिष्णु और सद्भावपूर्ण रहे। बदले में उन्होंने भी उनका सम्मान किया, और तब भी किया जब उन्होंने उनको सलाखों के पीछे डाल दिया। जनरल स्मट्स उनका मिसाली शत्रु और प्रशंसक था। यह शत्रुता खुली और यह प्रशंसा दोतरफा थी। जोहान्सबर्ग जेल में जनरल के कैदी के रूप में गांधी जी ने अपने हाथों से सैंडिलों की एक जोड़ी तैयार की थी जिसे उन्होंने स्मट्स को 1914 में दक्षिण अफ्रीका छोड़ते वक्त उपहारस्वरूप भेजी थी। इस घटना को 25 वर्ष बाद भी याद करते हुए जनरल स्मट्स ने लिखा था : 'उसके बाद मैंने अनेक गर्मियों में इन सैंडिलों को पहना है, हालांकि मैं महसूस करता हूं कि मैं इतने महान पुरुष के पदचिह्नों पर खड़ा होने के योग्य नहीं हूं।'

आजादी की कीमत

इस बीच दिल्ली में मिलीजुली, तदर्थ और तथाकथित राष्ट्रीय सरकार के पांव तले जमीन खिसकती जा रही थी। मुस्लिम लीग पहले स्वीकार की गई कैबिनेट मिशन की योजना से मुकर गई और उसने संविधान सभा में भाग लेने से इनकार कर दिया। अंतिम संबंधविच्छेद को रोकने के लिए एटली सरकार ने आखिरी कोशिश के तौर पर लंदन में कांग्रेसी और लीगी नेताओं को एक सम्मेलन के लिए बुलाया। पर इसका नतीजा कुछ नहीं निकला। बहादुर सैनिक-वायसराय वेवेल ने इससे पहले रेगिस्तानी युद्ध में रोमेल की रणनीति की श्रेष्ठता को गरिमा के साथ स्वीकार किया था, मगर अब उन्होंने स्वीकार किया कि इस असैनिक युद्धक्षेत्र में उनकी अकल हैरान है। राजनीतिक शतरंज में मायावी और दुराग्रही जिन्ना से उनका कोई मुकाबला ही नहीं था।

वायसराय की परेशानी को ध्यान में रखकर और स्थिति को अराजक बनने से बचाने के लिए चिंतित होकर ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने दिलेरी के साथ एक स्पष्ट नीति घोषित करने और उसे लागू करने के लिए एक नया वायसराय नियुक्त करने का फैसला कर लिया। सौभाग्य से मंत्रिमंडल ने लार्ड माउंटबेटन का चुनाव किया। इससे बेहतर कोई चुनाव हो सकता था, इसमें संदेह है। समय को सही व्यक्ति मिल गया था। जिस दिलेर नीति को लागू करने का दायित्व उन्हें सौंपा गया वह और कुछ नहीं बल्कि जून 1948 तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का इस प्रकार विसर्जन करना था 'कि वह अधिक से अधिक बुद्धिसंगत और भारतीय जनता के हित में सर्वोत्तम दिखाई पड़े।'

जब माउंटबेटन दिल्ली पहुंचे तब गांधी जी बिहार में थे। नए वायसराय ने पहले-पहल जो काम किए उनमें गांधी जी को निजी विचार विमर्श के लिए दिल्ली बुलाना भी शामिल था। गांधी जी निष्ठापूर्वक आए और जो सलाह मांगी गई, उन्होंने दी। वे खुद अनेक बार दुत्कारे गए थे, लेकिन जब कभी उनको पुकारा जाता वे कभी जवाब देने से नहीं चूकते, भले ही देश के हीनतम व्यक्ति ने पुकारा हो या महानतम व्यक्ति ने। लेकिन उन्होंने जो सलाह माउंटबेटन को दी वह उस निर्भीक जहाजी वायसराय के लिए भी जरूरत से ज्यादा दिलेर थी जिसने भारत

में अपनी सबसे दुस्साहसी रणनीति खेली। गांधी जी की सलाह थी कि वायसराय नेहरू सरकार को भंग करके जिन्ना को निमंत्रण दें कि वे केंद्र में अपनी पसंद की सरकार बनाएं। गांधी जी ने विश्वास दिलाया कि कांग्रेस जिन्ना की राह में कोई बाधा खड़ी नहीं करेगी, लेकिन अगर जिन्ना इस प्रस्ताव को स्वीकार न करें तो यही प्रस्ताव कांग्रेस को दिया जाए।

वायसराय भौंचक्का रह गया। उसके सलाहकारों को लगा कि दाल में कुछ काला है। उनको लगा कि कहीं न कहीं कोई जाल है और उन्होंने वायसराय को गांधी जी के जाल से दूर रहने की सलाह दी। यह कहना कठिन है कि अगर वायसराय ने दिलेरी के साथ इस सलाह पर अमल किया होता तो क्या हुआ होता। देश में सांप्रदायिक हिंसा की जो तूफानी लहरें उठ रही थीं उनको रोकने और देश की एकता को बचाने के बारे में यह गांधी जी की आखिरी कोशिश थी। शायद आनेवाली कयामत को टालने के सिलसिले में पहले ही बहुत देरी हो चुकी थी।

बहरहाल विभिन्न पार्टियों और संबद्ध हितों से विचार-विमर्श करने के बाद माउंटबेटन को अपना कोई निष्कर्ष तो निकालना ही था। वे बुद्धिमान, मृदुभाषी और आकर्षक थे, और उन्होंने आसानी से भारतीय नेताओं को अपनी सदिच्छा और सहृदयता का विश्वास दिला दिया था। खतरों से भरे समुद्रों में एक अनुभवी कमानदार रह चुकने के नाते वे फौरी फैसले की अहमियत जानते थे। वे जल्द ही इस दुखद निष्कर्ष पर पहुंचे कि देश को विभाजित किए बिना लीग और कांग्रेस की परस्पर-विरोधी आकांक्षाओं को पूरा नहीं किया जा सकता। जितनी जल्दी यह हो सके और अंग्रेज भारत छोड़ सकें, सभी संबद्ध पक्षों के लिए उतना ही बेहतर होगा। वास्तव में स्थिति इतनी विषम लगती थी कि उनके चीफ आफ स्टाफ लार्ड इस्मे ने इसकी तुलना 'बीच समुद्र में ऐसे जहाज की कप्तानी संभालने से की जिसके डेक पर आग लगी हो और जिसके गोदाम में गोला-बारूद भरा हो।'

कांग्रेसी नेताओं को घटनाओं को देखने में अपरिहार्य परिणति का विश्वास दिलाने में वायसराय को देर नहीं लगी। तदर्थ 'राष्ट्रीय' मंत्रिमंडल में मुस्लिम लीग की भागीदारी के बारे में उनका कुंठाजनक अनुभव पहले ही अपना कमाल दिखा चुका था। माउंटबेटन की और भी बड़ी जीत जिन्ना को यह विश्वास दिलाने में थी कि विभाजन के अंदर भी विभाजन होगा और जिस अपरिहार्य आवश्यकता के कारण भारत का विभाजन होगा उसी के कारण बंगाल और पंजाब को भी भारत या पाकिस्तान में मिलने से पहले अपने खुद के विभाजन का फैसला करने का अधिकार होगा। इस नियति के हस्तक्षेप से भयाक्रांत और उसके तर्क का प्रतिरोध करने में असमर्थ होकर जिन्ना को एक 'घुन लगा पाकिस्तान' स्वीकार करना पड़ा।

इस प्रकार स्वतंत्रता-अभियान के अंतिम चरण में भारतीय इतिहास का रथ तूफानी गति से दौड़ने लगा और खून भरी धूल का घना बादल उठाने, करोड़ों बेजुबान, बेसहारा बेगुनाहों को कुचलने और बिखराने लगा। किसी जगन्नाथ-यात्रा ने अपने बेरहम पहियों तले इतनी जिंदगानियों को कुचला या नष्ट नहीं किया होगा। वायसराय के प्रेस अताशी ऐलेन कैंपबेल-जानसन ने लिखा है : 'हमारे पहुंचने के 73 दिनों के अंदर विभाजन की योजना घोषित की गई, और उसके 72 दिनों के बाद खुद वायसरायल्टी ही समाप्त हो गई।'

भारत में जिस ब्रिटिश राज्य का शानदार प्रतीक वायसराय का पद होता था, उसका खात्मा एक ऐसा चरम क्षण था जिसकी गांधी जी आतुरतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने इस शासन की बुनियादों को किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक खोखला बनाया था। लेकिन अब जबकि वह अंत आनेवाला था, वे प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने कांग्रेसी नेताओं को मनाने की जी-तोड़ कोशिश की कि बौखलाहट में वे विभाजन को स्वीकार न करें। लेकिन बाघ की पीठ पर सवार कांग्रेसी नेता उससे उतरने में असमर्थ थे। कुछ प्रसन्न और कुछ भयभीत मन से, कुछ फुसलावे और कुछ बौखलाहट के कारण वे पसीना पसीना और दिग्भ्रमित थे और नहीं जानते थे कि आगे क्या करें। शायद वे सचमुच विश्वास करते थे कि जिन्ना की पाकिस्तान की मांग मानकर वे सांप्रदायिक समस्या को हमेशा के लिए हल कर लेंगे। और फिर भी, कहते हैं कि बौद्धिक निःसंगता की मनोस्थिति में, जो उन्हें साधारण राजनीतिज्ञों से भिन्न बनाती थी, जवाहरलाल नेहरू से किसी ने अकेले में कहा था कि 'सिर काटकर हम सिरदर्द से छुटकारा पा लेंगे।'

गांधी जी ने बार बार कहा कि अगर विभाजन होना ही है तो वह आजादी के बाद हो, न कि उसके पहले। पहले अंग्रेज जाएं और भारत को उसके हाल पर छोड़ दें, संभव है कुछ समय तक अव्यवस्था या अराजकता रहे और भारत को अग्निपरीक्षा देनी पड़े, 'लेकिन वह अग्नि हमें पवित्र करेगी।' लेकिन गांधी जी की आवाज अब नक्कारखाने में तूती की आवाज थी। पहलकदमी उनके हाथों से निकल चुकी थी।

उन्होंने जब राजनीतिक संघर्ष का नेतृत्व संभाला, उसके तीन दशक से भी कम समय के अंदर वे देश को आजादी की दहलीज तक ले आए थे। अब दरवाजे को खुलने के करीब पाकर आखिरी बाधा को छलांगने की पागलाना दौड़ शुरू हो चुकी थी। पुरस्कारों के लिए अशोभनीय छीन-झपट शुरू हो चुकी थी। दुर्भाग्य से जादूगर तो किनारे हो चुका था, उसने अपनी जादुई छड़ी तोड़ दी थी और हताश दौड़ को दुख के साथ देख रहा था जिसमें लुटेरे आ रहे थे, लुटेरे जा रहे थे, कुछ किलकारियां मारते हुए तो कुछ बौखलाकर। कितने उनके पांव तले कुचलेंगे ? क्या खुद वे बच सकेंगे ? अब तो उनकी बचने की इच्छा भी बाकी नहीं रही थी।

1 जून को यानी जिस दिन भारत और पाकिस्तान के दो उत्तराधिकारी राज्यों में ब्रिटिश सत्ता का बंटवारा करने की अंतिम योजना घोषित की गई उससे दो दिन पहले, जैसा कि गांधी जी के निजी अमलों और जीवनी-लेखकों ने लिखा है, वे रोजाना से पहले जाग गए और बिस्तर में ही पड़े रहे क्योंकि प्रार्थना शुरू होने में अभी देर थी। तब लोगों ने उनको स्पष्ट आवाज में बुदबुदाते सुना : 'आज मैं खुद को पूरी तरह अकेला पाता हूं। यहां तक कि सरदार और जवाहरलाल भी सोचते हैं कि मेरा निदान गलत है और अगर विभाजन पर रजामंदी हो गई तो शांति निश्चित ही बहाल होगी। उन्हें मेरा वायसराय से यह कहना अच्छा नहीं लगा कि अगर विभाजन होना ही है तो यह ब्रिटिश हस्तक्षेप से या ब्रिटिश शासन के तहत न हो। उन्हें हैरानी है कि कहीं मैं उम्र के साथ सनक तो नहीं गया हूं। फिर भी अगर मुझे कांग्रेस और ब्रिटिश जनता का सच्चा और वफादार दोस्त साबित होना है, जिसका मैं दावा करता हूं, तो मैं जो कुछ महसूस करता हूं वह मुझे कहना ही होगा। मैं साफ देख रहा हूं कि हम यह काम गलत ढंग से कर रहे हैं। हो सकता है हम इसके पूरे प्रभाव को फौरन महसूस न करें, लेकिन मैं साफ देख रहा हूं कि इस कीमत पर मिली आजादी का भविष्य अंधकारमय होगा।'

कुछ समय बाद वे आगे बोले : 'पर हो सकता है वे सब सही हों और एक मैं ही अकेला अंधेरे में ठोकरें खा रहा हूं। मैं इसे देखने के लिए शायद न रहूं, मगर जिस बुराई की मुझे चिंता है, अगर वही भारत को ग्रस ले और उसकी आजादी खतरे में पड़ जाए तो आनेवाली पीढ़ियां जानें तो सही कि इसके बारे में सोचते हुए इस बूढ़े ने क्या क्या तकलीफें झेली हैं। यह न कहा जाए कि गांधी भारत के टुकड़े होने में शरीक था। लेकिन आज हर कोई भारत की आजादी के बारे में बेचैन है। इसलिए कहीं से कोई उम्मीद नहीं है।'

अगले दिन सोमवार था और माउंटबेटन, जैसा कि उनके प्रेस अताशी ने लिखा है, 'काफी-कुछ बेचैन होकर' गांधी जी का इंतजार कर रहे थे। उन्हें पता नहीं था कि अबूझ महात्मा अब कौन-सी चाल चलेंगे। गांधी जी ने देश के विभाजन के प्रति अपने विरोध को छिपाकर नहीं रखा था, लेकिन सवाल यह था कि इस योजना को असफल बनाने के लिए वे किस सीमा तक जाएंगे। इसलिए गांधी जी ने जब शांति के साथ विभिन्न पुराने लिफाफों के पीछे और कागज के दूसरे टुकड़ों पर लिखा कि वह उनका साप्ताहिक मौनव्रत का दिन था (वे अभ्यास के लिए और किफायत के नमूने के तौर पर अकसर ऐसा किया करते थे) तो वायसराय मुश्किल से अपनी राहत और आश्चर्य की भावना को छिपा सका। गांधी जी ने कागज के एक टुकड़े पर लिखा था : 'क्या मैंने कभी अपने भाषणों में आपके खिलाफ एक शब्द भी कहा है ?'

कैंपबेल-जानसन ने अपनी डायरी में लिखा है : 'जब यह मुलाकात समाप्त

हो गई तो माउंटबेटन ने कागज के विभिन्न टुकड़ों को उठा लिया जिन्हें वे सोचते हैं कि वे उनके सबसे अधिक ऐतिहासिक महत्व वाली वस्तु होंगे।' वायसराय की सोच थी कि 'इस निराली कार्यपद्धति के पीछे राजनीतिक संन्यास का, आत्मनिषेध का और आत्मनियंत्रण का एक महान कृत्य छिपा हुआ था।'

था भी सचमुच ऐसा ही। न केवल यह कि भारत के विभाजन का विचार अपने देश की एकता में गांधी जी की भावात्मक आस्था के प्रतिकूल था बल्कि, जैसा कि उन्होंने कहा था, वे विभाजन के बाद खून की नदियां बहते साफ देख रहे थे। एक मुलाकाती ने पूछा था : 'फिर आपने लड़ाई क्यों नहीं की जैसी आपने इससे छोटी अनेक बुराइयों के खिलाफ लड़ी थीं ? ' तब दुखी और दबे हुए आवेश से कांपती आवाज में गांधी जी ने जवाब दिया था : 'काश कि मेरे पास समय होता, तो क्या मैं ऐसा नहीं करता ? लेकिन मैं मौजूदा कांग्रेस नेतृत्व को तब तक चुनौती नहीं दे सकता और उसमें जनता की आस्था को तब तक समाप्त नहीं कर सकता जब तक कि मैं यह कहने की स्थिति में न होऊं कि यह है एक वैकल्पिक नेतृत्व ! ऐसा कोई विकल्प तैयार करने का समय मेरे पास नहीं है। इन हालात में मौजूदा नेतृत्व को कमजोर करना गलत होगा, और इसलिए मुझे यह कड़वा घूंट पीना ही होगा।'

और कड़वा वह था ! इतना कड़वा कि भारत की स्वतंत्रता के प्रमुख सेनानी ने, जिसके लिए उसके आरंभ को देखना सबसे सुनहरा पल होना चाहिए, उस दिन के आने पर दिल्ली में ठहरने से इनकार कर दिया। उन्होंने कलकत्ता में रहना पसंद किया। साल भर पहले के 'कलकत्ता के कत्ले-आम' के बाद बिना चैन की सांस लिए, यह दुखी नगर कराह रहा था और खून में लथपथ था और वहां उनकी मसीहाई मौजूदगी की जरूरत थी।

तीन बार भारत सरकार ने उन्हें संदेशवाहक भेजकर कहलवाया कि वे स्वतंत्रता-दिवस पर प्रसारण के लिए अपना संदेश दें। उन्होंने उनको यह समझाने की कोशिश की कि उनका कोई संदेश न हो तो 'अच्छा नहीं लगेगा।' महात्मा की रूखी टिप्पणी थी : 'कोई संदेश नहीं है। अगर यह बुरा है तो होता रहे।' बी. बी.सी. की ऐसी ही एक प्रार्थना को भी उन्होंने इसी तरह ठुकरा दिया। उनका जवाब था : 'उन्हें भूल जाना चाहिए कि मैं अंग्रेजी भी जानता हूं।' जो व्यक्ति आमतौर पर इस कदर गरिमासंपन्न था और सौहार्दपूर्ण हास्य से खिलखिलाता रहता था उसने ऐसे अवसर पर ऐसे कठोर उत्तर कितनी भारी पीड़ा के कारण दिए होंगे !

भारत और पाकिस्तान की स्वाधीनता पर वैध गर्व और आनंद का अनुभव करने का सबसे अधिक कारण अगर किसी के पास था तो संभवतया ब्रिटिश जनता के पास था। वाल्टर लिपमैन ने शायद यही सोचकर **वाशिंगटन पोस्ट में** लिखा था :

'ब्रिटेन के लिए सबसे सुनहरा पल शायद अतीत में नहीं है।' भारतीय स्वाधीनता विधेयक को 'युद्ध के बिना की गई शांति-संधि' की संज्ञा देते हुए हाउस आफ लार्ड्स में लार्ड सैमुएल ने कहा था : "जैसा शेक्सपियर ने काडोर के थेन के बारे में कहा था वैसा ही ब्रिटिश राज के बारे में कहा जा सकता है कि 'जीवन में कुछ भी इसे छोड़ने के समान नहीं आया'।"

एक व्यक्ति की अग्रिम सेना

आरंभ में गांधी जी ने नोआखाली जाने का कार्यक्रम बनाया जो विभाजन के बाद पाकिस्तान का भाग हो गया था। लेकिन उनके अपने शब्दों में 'जलती हुई आग की लपटों पर पानी की बाल्टी' डाले बिना वे कलकत्ता से आगे नहीं बढ़ सकते थे। जिम्मेदारियां अब उलट गई थीं। हिंदू अब आखिरकार अपने घर के मालिक होने के भाव से उत्तेजित थे और युद्ध के मार्ग पर बढ़ रहे थे। मुसलमान डरे हुए थे हालांकि वे अभी भी उदासी के साथ आक्रामक हो जाते थे और जहां भी उनकी अच्छी-खासी तादाद थी, वे पलटकर जवाब देते थे। लेकिन उनको खूब पता था कि अब उनके दिन लद चुके थे और कलकत्ता या पश्चिम बंगाल के बाहर धकेले जाने या खत्म होने से उनको सिर्फ कोई चमत्कार ही बचा सकता था, और कुछ भी नहीं।

भूतपूर्व प्रधानमंत्री सुहरावर्दी अब निराश थे और काफी हद तक रास्ते पर आ गए थे। न केवल कलकत्ता में उनकी हुकूमत जाती रही थी बल्कि वे पूर्वी बंगाल के मुस्लिम लीगी नेतृत्व से भी निकाल दिए गए थे। उन्होंने गांधी जी से प्रार्थना की कि जब तक भारत का यह सबसे बड़ा नगर सही राह पर न आ जाए, वे यहां ठहरें। गांधी जी के लिए सबसे अधिक चुनौती की जगह पर पहुंचने से अधिक सुखद कोई निमंत्रण हो ही नहीं सकता था। लेकिन उन्होंने अपनी रजामंदी के लिए यह शर्त रखी कि सुहरावर्दी उनके साथ यात्रा पर चलें और एक ही छत के नीचे उनके साथ रहें। उन्होंने कहा : 'मैं आपसे फौरन कोई फैसला करने को नहीं कहता। आप घर जाएं और अपनी बेटी से सलाह-मशविरा करें; मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि बुजुर्ग सुहरावर्दी को मरना होगा और एक फकीर का बाना पहनना होगा।'

इस काम के लिए गांधी जी ने जिस मकान का चुनाव किया वह एक बूढ़ी मुस्लिम महिला का था। वे ऐसे इलाके में रहे जो सरदार पटेल के शब्दों में 'सचमुच कसाईखाना था और अपराधियों और बदमाशों का बदनाम अड्डा था। यह ऐसी जगह थी जहां हमले हो सकते थे, जहां वे पूरी तरह क्रूर हिंदू युवकों के रहम पर होते जो इसलिए नाराज थे कि वे मुसलमानों को बचाने के लिए उनके बीच पहुंच

गए थे जबकि वे उस वक्त हिंदुओं को बचाने में नाकाम हो चुके थे जब साल भर पहले उनको बेरहमी से कत्ल किया जा रहा था। गांधी जी यह सब जानते थे मगर फिर भी उन्होंने सुरक्षा के लिए कोई हथियारबंद दस्ता लेने से इनकार कर दिया। उन्होंने कहा कि कोई सुरक्षा या दिल में प्रेम और सिर में विवेक के अलावा कोई और हथियार लिए बिना खतरों का मुकाबला करना ही अहिंसा की सच्ची परीक्षा होगी।

वे बेलियाघाट के इस घर में 12 अगस्त को दोपहर बाद पहुंचे। दरवाजे पर उन्हें विरोधी युवकों का एक दल मिला जो 'गांधी, वापस जाओ !' के नारे लगा रहा था। सुहरावर्दी की कार घिर चुकी थी और जब आखिरकार उनको घर में जाने दिया गया तो शीशे की खिड़कियों के रास्ते पत्थर बरसने लगे। गांधी जी ने प्रदर्शनकारियों को बुलाया, और उन्हें अपनी यात्रा का उद्देश्य और मोर्चे पर रहकर अपने कुछ 'करने या मरने' के फैसले के बारे में शांतिपूर्वक बतलाया। उनकी बातों का शांतिकारी प्रभाव पड़ा। उसके बाद अगले रोज अर्धक्रुद्ध युवकों से उनका सामना भर हुआ और फिर नफरत का तूफान थम गया।

लेकिन एक दबी और बेबस चिंघाड़ के साथ थमने और धरती को सूखी और धूल से भरी छोड़ने की बजाय यह तूफान सौभाग्य से अपने साथ ईश्वर-कृपा की एक अत्यंत अप्रत्याशित झड़ी भी ले आया। एकाएक और बिना किसी स्पष्ट मार्गदर्शन या उकसावे के हिंदुओं और मुसलमानों के दल सड़कों पर जमा होकर स्वाधीनता की पूर्वबेला का जश्न मनाने लगे, नाचने और एक-दूसरे को प्यार से भींचने लगे। बंगाली कवि सुधींद्रनाथ दत्त ने भी नफरत के इस पागलपन को स्नेह के विस्फोट में एकाएक बदलते देखा था और उन्होंने कहा है कि 'यह संभवतया वह एकमात्र चमत्कार था जिसे मैंने अपने जीवन में देखा है।'

लेकिन गांधी जी को कोई खास उल्लास नहीं हुआ। उन्हें शक था कि क्या यह रूपांतरण इतना वास्तविक था कि स्थायी रह सके। अगला दिन सदियों की गुलामी के बाद आजादी के मिलने की आशा में, उसके स्वागत के लिए धूम-धड़ाके और खुशी के साथ शुरू हुआ, मगर उस दिन गांधी जी ने उपवास रखा। यह विभाजन का शोक मनाने के लिए था, अंग्रेजों के जाने पर उन्हें धन्यवाद देने के लिए था, कलकत्ता में विवेक के लौटने पर था या इसलिए था कि यह उनके प्रिय मित्र महादेव देसाई की मृत्यु की बरसी थी जो पांच साल पहले मरे थे, या इन सभी कारणों से था—इसे केवल वे ही जानते थे।

अगाथा हैरिसन को उन्होंने (उसी रोज) लिखा कि महान घटनाओं को मनाने का उनका तरीका उसके लिए ईश्वर को धन्यवाद देने और इसलिए व्रत रखने और प्रार्थना करने का था। जब पश्चिम बंगाल के मंत्रिमंडल के नए सदस्य शपथ लेने के बाद उनका आशीर्वाद मांगने आए तो उनकी सलाह उनके ही अनुकूल थी :

'आज से आप सबको कांटों का ताज पहनना होगा...सत्ता से होशियार रहें, सत्ता मति भ्रष्ट करती है। अपने को इस तड़क-भड़क और शान-शौकत में गिरफ्तार मत होने दीजिए। याद रखें कि आप भारतीय ग्रामों के गरीबों की सेवा के लिए अपने पद पर हैं। ईश्वर आपकी सहायता करे।'

उन्होंने मीरा बहन को लिखा : 'भीड़ खुशियां मना रही है, लेकिन मेरे अंदर संतुष्टि का कोई भाव नहीं है। क्या मेरे अंदर किसी वस्तु की कमी है ?... हिंदू-मुस्लिम एकता इतनी आकस्मिक लगती है कि सच्ची नहीं हो सकती। वे इस रूपांतरण का कारण मुझे कहते हैं। आश्चर्य है ! अगर मैं दृश्यपटल पर नहीं होता तो भी शायद स्थिति ऐसी ही होती। वक्त बतलाएगा।'

वही हुआ जिसका उन्हें डर था। तथाकथित 'चमत्कार' अल्पजीवी निकला। विभाजन के बाद 'खून की नदियां' बहने के बारे में उन्होंने पहले जो आशंका व्यक्त की थी वह उस तबाही के रूप में दुखद रूप से सामने आई जो लगभग पूरे पश्चिमी पाकिस्तान को अपनी लपेट में ले चुकी थी। जनता के पागलपन से अधिक भयानक ढंग से कोई महामारी नहीं फैलती। सुधार की ओर बढ़ रहा कलकत्ता पहली लपेट में ही चित्त हो गया। 31 अगस्त तक वातावरण में इतनी प्रवंचक शांति और सौहार्द था कि अगले रोज उन्होंने नोआखाली की ओर बढ़ने का ऐलान कर दिया जहां उनका मकसद अधूरा रह गया था। सौभाग्य से उन्होंने सुहरावर्दी को अपने घर लौटने की इजाजत दे दी थी कि वे अगले रोज की यात्रा के लिए तैयारियां करें।

उत्पात एकाएक 10 बजे रात को शुरू हुआ। थोड़ी ही देर पहले गांधी जी सोने के लिए गए थे। उत्तेजित युवकों की एक भारी भीड़ घर में घुस आई और जो चीज सामने आई, उसे तोड़ने-फोड़ने लगी। गांधी जी चीखती-चिल्लाती भीड़ का सामना करने के लिए उठे। वे हाथ जोड़कर शांति से खड़े थे कि एक ईंट के उड़ते हुए टुकड़े से और उन पर चलाए गए एक डंडे की चोट से बाल बाल बच गए। ये उत्पाती वास्तव में सुहरावर्दी के खून के प्यासे थे, लेकिन चिड़िया सौभाग्य से उड़ चुकी थी।

भीड़ को सफलता से हटने पर राजी करने के बाद खबर आई कि मुसलमानों से भरे एक ट्रक पर दस्ती बम फेंके गए थे और दो तो फौरन मर गए थे। उस समय निर्मलकुमार बोस गांधी जी के साथ ठहरे हुए थे और उनके सचिव के रूप में उनकी सहायता करते थे। उन्होंने एक महत्वपूर्ण घटना का वर्णन किया है जो अहिंसा के बारे में गांधी जी की लोचदार व्याख्या तथा दूसरी ओर पश्चिम के शांतिवादियों के कट्टर रवैये या जैनियों के पूर्ण अहिंसा के सिद्धांत के सूक्ष्म मगर महत्वपूर्ण अंतर पर रोशनी डालती है। (बोस खुद भी अंशतः ऐसी ही जैनी आस्था

रखते थे।) युवकों के एक दल को लगता था कि उन्होंने कुछ दिन पहले गांधी जी को वचन दिया था और इसलिए मुसलमानों की रक्षा करना उनका कर्तव्य था। वे उनसे यह पूछने आए कि क्या वे इस काम के लिए स्टेनगनों का इस्तेमाल कर सकते हैं। गांधी जी ने कहा कि 'वे उनके साथ थे।' अगर कांग्रेसी मुख्यमंत्री अल्पसंख्यकों की सुरक्षा में असफल रहता है और ये युवक आग्नेयास्त्रों की सहायता से ऐसा कर पाते हैं तो 'वे उनके समर्थन के अधिकारी हैं।'

लेकिन ऐसा कहने के बाद गांधी जी ने संकट का सामना अपने ढंग से किया। जब इतना बड़ा नैतिक प्रश्न सामने हो तो सरकारी या निजी, किसी बाहरी संगठन पर भरोसा करना उनका तरीका नहीं था। इसलिए उन्होंने अनशन रखने का ऐलान कर दिया जो तभी समाप्त होगा 'जब यह अग्निकांड समाप्त होगा।'

महात्माजी के अनशन ने हमेशा की ही तरह वांछित नाटकीय प्रभाव डाला। अनशन शुरू करने के तीन दिनों के अंदर उन्हें सभी जनसमूहों के नेताओं से लिखित आश्वासन मिलने लगे कि नगर में सांप्रदायिक पागलपन का तांडव फिर शुरू हो, इसके पहले ही वे स्वेच्छा से अपना जीवन त्याग देंगे। यह आश्वासन एक सच्चे हृदय-परिवर्तन का परिणाम था, यह प्रेम के ब्लैकमेल के एक सूक्ष्म रूप से हासिल की गई रियायत थी, या दोनों का घालमेल था, यह भला कौन बता सकता है ?

इस बीच पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत और सिंध में आग की भीषण लपटों का उठना जारी रहा। लगभग एक करोड़ लोग अपना पुश्तैनी घरबार छोड़कर जलती हुई सरहद के पार आसरा ढूंढ़ने के लिए चले आ रहे थे। यह भीड़ के पागलपन से उत्पन्न भीषण आपाधापी थी जो इतिहास में बेमिसाल थी। कैंपबेल-जानसन ने अपनी डायरी में लिखा है : 'मैं पतली सड़कों पर रेंगते हुए, शरणार्थियों की साठ मील से अधिक लंबी कतारों के ऊपर से उड़ा जिसमें परिवार अपना सब-कुछ गाड़ियों पर लादे चले जा रहे थे। सांप्रदायिक देशांतरण पहले भी हुए हैं, लेकिन कभी इतना अधिक नहीं हुआ इसके अलावा, इस बार वापसी का सवाल ही नहीं था।'

यह सब हुआ उन व्यापक सुरक्षा-उपायों के बावजूद जो वायसराय ने पंजाब में ऐसी तबाही को रोकने के लिए किए थे। जैसा कि आगे चलकर माउंटबेटन ने कहा था : 'जिस समय पंजाब में 55 हजार की अग्रिम सेना दंगों से त्रस्त थी, उस समय एक व्यक्ति की अग्रिम सेना ने बंगाल में शांति स्थापित की।'

यह समकालीन इतिहास का एक सुप्रमाणित तथ्य है कि तथाकथित अव्यवस्थित और पागल हो रहा कलकत्ता प्रेम की विजय के गांधीवादी चमत्कार का एकमात्र प्रामाणिक दृश्य प्रस्तुत कर रहा था। बुरी तरह लांछित बंगाली वे एकमात्र भारतीय थे जिन्होंने महात्मा की करुण पुकार का स्वतःस्फूर्त और भरपूर

प्रत्युत्तर दिया। भारत की सबसे अधिक पीड़ित जनता ही सबसे अधिक उदार हृदय साबित हुई, और जो सबसे अधिक उत्तेजित होता था वही सबसे अधिक धीर-गंभीर रहा। गांधी जी के जिन महान पूर्वजों ने आधुनिक बंगाल की रचना की थी उन्होंने अपने जीवन को व्यर्थ नहीं गंवाया था।

करो या मरो

गांधी जी पंजाब जाने के लिए बैचेन थे। उन्हें आशा थी कि वे वहां भी सांप्रदायिक घृणा की कौंदती लपटों पर 'पानी की एक बाल्टी' डाल सकेंगे। लेकिन जब वे 9 सितंबर को दिल्ली पहुंचे तो पता चला कि पंजाब को हिलानेवाले पागल• भूकंप का केंद्र अब दिल्ली में था। उच्छृंखल हिंसा का एक वहशियाना तांडव नगर को अपनी जकड़ में लिए हुए था। अब चूंकि गांधी जी वहीं रहना पसंद करते थे जहां खतरा सबसे ज्यादा हो, इसलिए उन्होंने दिल्ली में ही कुछ 'करने या मरने' का फैसला किया।

इस बार वे भंगी बस्ती की प्यारी झोपड़ी में नहीं रह सके जो तबाह हो चुकी थी और जहां पंजाब के शरणार्थियों ने कब्जा जमा रखा था। इसलिए उन्हें बिड़ला भवन में रहने पर तैयार किया गया। वे उस भव्य महल में प्रिय भक्तों की भीड़ से घिरे रहते थे और नेहरू सरकार के सारे संसाधन उनके लिए उपलब्ध थे। फिर भी अजीब बात है कि गांधी जी यहां अपने को कलकत्ते से अधिक असहाय समझ रहे थे जहां उन्होंने एक अपराध क्षेत्र में ऐसे नाराज युवकों से घिरे रहकर दिन गुजारे थे जो महात्मा के मित्र और उनके पवित्र ध्येय में सहयोगी के रूप में संदिग्ध, सुहरावर्दी की मौजूदगी पर गुर्राते रहते थे।

दिल्ली में अपने पहले सार्वजनिक वक्तव्य में ही गांधी जी ने अपनी इस निराशा की भावना को स्पष्ट कर दिया कि उन्हें मुस्लिम, सिख या हिंदू नेताओं में कोई नजर नहीं आता था जो उनको अपने अपने समुदाय के शरारती तत्वों पर नियंत्रण करने में सहायता दे सके। यह दुख भरी स्वीकारोक्ति भावुक और आसानी से भड़कनेवाले बंगाली की एक अप्रत्यक्ष और ढके-छिपे ढंग से प्रशंसा करने के समान थी कि वह अगर पतित हो सकता था तो ऊंचाइयों को भी छू सकता था।

जब भी गांधी जी पाकिस्तान से आए हिंदू-सिख शरणार्थियों के कामचलाऊ शिविरों में जाते या चिंता के साथ पाकिस्तान भेजे जाने का इंतजार कर रहे मुसलमानों से मिलते, उन्हें भारी दुख के दृश्यों का सामना करना पड़ता। लेकिन उन्हें इन दुखी प्राणियों की दुर्दशा से भी अधिक पीड़ा इन लोगों की आंखों में जल

रही क्रोध की अग्नि को देखकर, उनके दिलों को मसोसनेवाली बदले की भावना को देखकर होती। गांधी जी आर्तनाद कर उठे : 'क्या दिल्ली के नागरिक पागल हो गए हैं ? क्या उनमें कुछ भी इंसानियत नहीं बची है ?'

जो कुछ स्वतंत्र भारत की राजधानी में हो रहा था, उससे उनकी मानवता ही नहीं, उनके स्वाभिमान को भी धक्का लगा। वे भारत पर अभिमान करते थे कि यह सहिष्णुता और दया-भाव की भूमि है, विविधता में एकता की सदियों पुरानी प्रयोगशाला है और उनके शब्दों में अनेक मिश्रित सभ्यताओं और संस्कृतियों का पालना है। उन्होंने कहा : 'अगर भारत नाकाम रहता है तो एशिया की मृत्यु हो जाएगी।' पाकिस्तान चाहे कुछ करे, दिल्ली को सभ्य व्यवहार का झंडा ऊपर ही रखना होगा। 'केवल तभी वह निजी बदले और जवाबी कार्रवाई के दुष्चक्र को तोड़ने के गर्व का दावा कर सकेगी।'

लेकिन लगता था कि उनकी वाणी में वह पहलेवाला जादू नहीं रहा था। अखंड भारत में मुसलमान उनको अपना पक्का दुश्मन समझकर उनकी निंदा करते थे और काइयां हिंदू उनके मित्र होने का दिखावा करते थे कि उन्हें और अच्छी तरह ठग सकें। अब हिंदू मुसलमान नंबर एक कहकर उन पर लांछन लगाने लगे कि उनको पीड़ित हिंदुओं की चिंता कम थी बनिस्बत उन लोगों के जिन्होंने जानबूझकर इस पीड़ा को जन्म दिया था। वे हिंदू 'पंचमांगी' हैं, मोहनदास गांधी नहीं बल्कि 'मुहम्मद' गांधी हैं।

जब तक अंग्रेजों के खिलाफ उनके अनोखे नेतृत्व और उनकी नैतिक प्रतिष्ठा की आवश्यकता थी, उनके देशवासियों ने उनके 'सनकीपन' के बावजूद खुशी से उनका अनुसरण किया था। लेकिन अब जबकि आजादी मिल चुकी थी और इस 'पावन भूमि' की महिमा को पुनर्स्थापित करने का हिंदुओं का सपना सच हो सकता था, इस बूढ़े को क्यों बरदाश्त किया जाए जो अपनी उपयोगिता खो चुका था ?

गांधी जी ने जनता के मिजाज और रुझान के इस बदलाव को समझा। पहले वे शांति के साथ, अबोध बालक की तरह सोते थे, लेकिन अब दुखद सपने उनकी नींद को हराम करने लगे—कभी उनके कमरे पर हिंदुओं की तो कभी मुसलमानों की भीड़ के हमलों के सपने, जिनमें वे खुद उनको उलाहना दे रहे या उनको झिड़क रहे होते थे। 'सोते या जागते हुए मैं और कुछ सोच नहीं पाता।'

अपने इर्द-गिर्द के इस नैतिक पतन पर उनकी पीड़ा इतनी गहरी थी कि रोज गीता का पाठ करनेवाले और उसके निःसंगता के सिद्धांत, विरोधाभासों से और शुभ-अशुभ के आवागमन से परे उठने के सिद्धांत का प्रचार करते न थकनेवाले गांधी जी उसी समय उसको अपने जीवन में न उतार सके जब उन्हें उसके सहारे की सबसे ज्यादा जरूरत थी। उन्होंने जागृत अवस्था के एक एक पल में अपना कर्तव्य अवश्य निबाहा, लेकिन क्या वे अपने कर्मों के परिणामों के प्रति निःसंग

थे जिसका उपदेश गीता ने दिया है ? अगर यह असफलता थी तो उन्होंने अपनी असफलता को माना और स्वीकार किया : 'अगर कोई व्यक्ति ईश्वर से पूरी तरह एकाकार हो चुका है तो उसे शुभ-अशुभ, जय-पराजय को उसी के हवाले छोड़कर संतुष्ट रहना चाहिए तथा किसी और बात का ख्याल नहीं करना चाहिए। मुझे लगता है कि मैं अभी इस अवस्था को नहीं पा सका हूं और इस प्रकार मेरा प्रयास अधूरा है।'

जब 2 अक्टूबर को उनके 78वें जन्मदिन पर दुनिया भर से बधाई के संदेश आने लगे तो उन्होंने पूछा कि क्या शोक-संदेश भेजना अधिक उपयुक्त नहीं होगा। उन्होंने अपने सभी शुभचिंतकों से यह प्रार्थना करने को कहा कि या तो मौजूदा तबाही का खात्मा हो 'या वह मुझे उठा ले मैं नहीं चाहता कि भारत जब जल रहा हो तो मेरा एक और जन्मदिन आए।' उन्होंने स्वीकार किया कि 'इस निरंतर मातृघात के फलस्वरूप मेरी 125 साल जीने की इच्छा,' जिसे वे पहले व्यक्त कर चुके थे और अकसर दोहराते थे, 'पूरी तरह मर चुकी है। मैं इसका असहाय साक्षी नहीं बनना चाहता।'

इसमें शक नहीं कि यह असहनीय पीड़ा उनकी नैतिक संवेदना की, अपनी जनता के प्रति उनके प्रेम की और उनकी आध्यात्मिक धरोहर के प्रति उनकी गर्व की भावना की सूचक थी। उनके गिरते स्वास्थ्य, उनकी बराबर की खांसी, पूरी नींद के अभाव और दिल मसोसनेवाली यह चेतना कि सभी पिछली लड़ाइयों को जीतने के बाद वे इस आखिरी लड़ाई को हार रहे हैं—इन सबने भी उनकी पीड़ा को और बढ़ाया और उसे अपेक्षाकृत स्थायी बना दिया था। वे इतने ईमानदार और गरिमासंपन्न थे कि दूसरों के दोष नहीं देखते थे, न ही अपने दोष देखते थे। उन्होंने कहा : 'मेरी सत्य और हिंसा की धारणा और व्यवहार में कहीं कोई सूक्ष्म दोष अवश्य है जिसका यह नतीजा है। मैंने कमजोरों की अहिंसा को, जो किसी भी तरह अहिंसा नहीं है, सच्ची अहिंसा समझा। संभवतया ईश्वर ने किसी उद्देश्य से मुझे अंधा बना दिया हो। बल्कि मैं कहूंगा कि मैं अंधा था। मैं देख नहीं सकता था।'

सितंबर के आरंभ में उनके दिल्ली पहुंचने के बाद हिंसा और उच्छृंखलता का तांडव काफी-कुछ थम चुका था। फिर भी गांधी जी संतुष्ट नहीं थे और जानते थे कि यह आपेक्षिक शांति यथार्थ से अधिक बाहरी है। 1948 के नववर्ष के दिन उन्होंने एक पत्रलेखक को लिखा था : 'यह नगर पुलिस के भय से शांत है। लेकिन लोगों के दिलों में क्रोध की आग मौजूद है। मैं या तो इस आग में जल मरूंगा या इसे बुझाऊंगा। अभी तक मेरे सामने कोई तीसरा रास्ता नहीं है।'

इस पीड़ा के साथ यह उलझन भी थी और वह शर्म भी थी जो संघीय मंत्रिमंडल में उनके कुछ सबसे प्रिय और सबसे विश्वस्त सहयोगियों की आपसी

शंकाओं और खींचतान से पैदा हुई थी। संघीय मंत्रिमंडल ने फैसला किया था कि जब तक कश्मीर की समस्या हल नहीं होती, अविभाजित भारत के नकद भुगतान संतुलन में पाकिस्तान का भाग उसे न दिया जाए। (यह रकम 55 करोड़ रुपए या लगभग 14.4 करोड़ पाउंड के बराबर थी।) इस फैसले की कानूनी वैधता चाहे जो हो, यह गांधी जी को नैतिक रूप से उचित नहीं लगता था। उन्होंने निजी तौर पर माउंटबेटन से पूछा कि वे इसके बारे में क्या सोचते हैं। माउंटबेटन ने जवाब दिया कि इस प्रकार रकम रोकना भारत सरकार का 'पहला असम्मानजनक कृत्य' होगा।

इन दुखद घटनाओं का मिला-जुला बोझ गांधी जी की अंतरात्मा पर बहुत भारी था। असहायता की बढ़ती भावना ने उन्हें लगभग पूरी तरह चिड़चिड़ा बना दिया और वे झुंझलाने लगे। उनके सचिव और जीवनीलेखक प्यारेलाल ने लिखा है : 'उन्होंने कई बार चिड़चिड़े होते जाने के बारे में शिकायत की जिसे काबू में रखने के लिए उनको संघर्ष करना पड़ता था। उनके होंठों पर एक वाक्य अकसर रहता था कि 'क्या तुम नहीं देखते कि मैं अपनी चिता पर बैठा हूं ?' और कभी कभी वे खासतौर पर हठधर्मी के साथ चेतावनी देते : 'तुम्हें पता होना चाहिए कि तुमसे ये बातें एक मुर्दा कर रहा है। जब उनसे मीरा बहन ने पूछा कि क्या वे ऋषिकेश आकर उनके मवेशी केंद्र का उद्घाटन करेंगे तो उन्होंने जवाब दिया : 'एक लाश पर भरोसा करने से क्या फायदा ?'

यह सब उदासी 12 जनवरी को गायब हो गई जब उन्होंने अपनी प्रार्थना-सभा में घोषणा की कि उन्होंने एक व्रत रखने का फैसला किया था जो अगली दोपहर को शुरू होगा और जो या तो उनकी मृत्यु के साथ समाप्त होगा या तब समाप्त होगा जब उन्हें विश्वास हो जाएगा कि विभिन्न समुदायों ने बाहरी दबाव के कारण नहीं बल्कि मुक्त स्वेच्छा से फिर से आपस में मित्रवत संबंध कर लिए हैं। उन्होंने स्वीकार किया : 'इधर मेरी असहायता मेरा दिल कचोटती रही है। जैसे ही मैं अपना व्रत आरंभ करूंगा, यह समाप्त हो जाएगी। मैं इस पर पिछले तीन दिनों से चिंतन-मनन करता रहा हूं। आखिरकार यह फैसला मेरे मन में कौंधा, और मुझे इससे प्रसन्नता हुई है।'

जिसे उन्होंने 'मेरा सबसे बड़ा व्रत' कहा था उसने उनके उल्लासपूर्ण और मनोविनोदी स्वभाव को किस सीमा तक वापस लौटाया, यह उस पत्र से स्पष्ट है जिसे उन्होंने तीन दिन बाद मीरा बहन के लिए लिखवाया था : 'मैं यह पत्र साढ़े तीन बजे सुबह की प्रार्थना के फौरन बाद लिखवा रहा हूं जबकि मैं अपना वह भोजन कर रहा हूं जो एक व्रत रखनेवाले व्यक्ति के लिए निर्धारित है। भौंचक्के मत रहो। यह भोजन 8 औंस गर्म पानी का है जो मुश्किल से गले से नीचे उतरता है। हम इसे जहर समझकर लेते हैं और जानते हैं कि इसका प्रभाव अमृत जैसा

है। मैं जब भी इसे लेता हूं, यह मुझे स्फूर्ति देता है। यह आश्चर्य की बात है कि इस बार मैंने 8 बार यह जहर लगनेवाला मगर अमृतसमान भोजन लिया है। फिर भी मैं व्रत रखने का दावा करता हूं और सहजविश्वासी लोग इसे मान लेते हैं ! कितनी अजीब दुनिया है यह !'

यह व्रत महात्मा के जीवन का अठारहवां और अंतिम व्रत था। उसने गांधी जी की मनोविनोदी भावना को तो लौटाया मगर उनके इर्द-गिर्द के लोगों में जो भी मनोविनोदी भावना थी उससे उन्हें वंचित कर दिया। राष्ट्र स्तब्ध रह गया और आगे क्या होगा, इसका सांस रोके इंतजार करने लगा। इस व्रत का पहला और फौरी असर तो यह हुआ कि संघीय मंत्रिमंडल ने अपना फैसला उलट दिया ओर घोषणा की कि भुगतान संतुलन की नकदी में पाकिस्तान का हिस्सा उसे बिना किसी देरी के दिया जाएगा।

गांधी जी इतने कमजोर थे कि किसी लंबे व्रत को झेल नहीं सकते थे। जब उनकी हालत बिगड़ने लगी तो बौखलाहट के साथ सभी प्रमुख समुदायों के नेताओं को गांधी जी को यह लिखित आश्वासन देने के लिए मनाया जाने लगा कि आगे से मुसलमानों की जान-माल और इज्जत की सुरक्षा रहेगी। यह व्रत के छठे दिन की बात है। अब उन्हें व्रत भंग करने के लिए राजी कर लिया गया।

इस पूरे काल में माउंटबेटन का प्रेस अताशी दिल्ली में ही मौजूद था। पत्रकार होने के नाते वह हर किसी से मिल लेता था और उसने जनता की प्रतिक्रिया को बड़े करीब से देखा था। वह अपनी डायरी में लिखता है : 'आपको गांधी के व्रत की आकर्षण-शक्ति को समझने के लिए उसके आसपास रहना होगा। गांधी जी का पूरा जीवन जनता को प्रभावित करने की कला का एक रोमांचक अध्ययन है, और इस रहस्यमय क्षेत्र में उन्होंने जो सफलता पाई है उसके आधार पर देखें तो वे नेतृत्व के क्षेत्र में आज तक के महानतम कलाकारों में एक कहे जाएंगे। उनमें ऐसे प्रतीकों के माध्यम से कर्म करने की प्रतिभा है जिनको सभी समझ सकते हैं।'

दुर्भाग्य से प्रतीकों की शक्ति हमेशा नहीं रहती और 'नेतृत्व के क्षेत्र में महानतम कलाकारों में' शामिल इस कलाकार को 'आज तक के' महानतम प्रतीक के माध्यम से अपना कर्म करना पड़ा कि फिलहाल पागलपन की उस आग को बुझाया जा सके जो कभी पूरे देश को निगल जाने का खतरा पैदा कर रही थी। यह प्रतीक सलीब का था जिससे गांधी जी इस कदर प्रेम करते थे।

इस बीच इस व्रत ने राजधानी में नंगा नाच दिखानेवाली पाशविकता को सचमुच वश में कर लिया था। लेकिन इसने कहां तक जनता का हृदय-परिवर्तन किया था, यह विवादास्पद है। हालांकि गांधी जी को आशा थी कि ऐसा हुआ है। इसमें शक नहीं कि इसने भारतीय मुसलमानों की भय और चिंता की भावना को दूर किया और उन्हें अपेक्षाकृत सुरक्षा की भावना प्रदान की। लेकिन लोगों के दिल

बदले या नहीं बदले, सभी समुदायों के आभासी व्यवहार पर व्रत ने शुद्धिकारक और सभ्यताकारी प्रभाव अवश्य डाला। इसने मुस्लिम दुनिया में गांधी जी की छवि को अवश्य बदला; अब उनको दुश्मन नंबर एक की बजाय पूरब का सुपुत्र समझा जाने लगा। पाकिस्तान के विदेशमंत्री ने 'भारत और पाकिस्तान के बीच मित्रता की भावना और इच्छा की एक नयी और भारी लहर' उठने की बात तक कही।

अब जबकि अंग्रेज गांधी जी के 'तमाशों' से सीधे-सीधे जुड़े हुए नहीं थे, उन्होंने भी पहली बार उनके व्रत के महत्व को समझा। जिन ब्रिटिश पत्र-पत्रिकाओं और अंग्रेजों ने उनके पिछले व्रतों की खिल्ली उड़ाई थी और उनको ब्लैकमेल की रणनीति कहकर उनकी निंदा की थी, उन्होंने एकाएक महसूस किया कि 'महात्मा गांधी के व्रत की सफलता एक ऐसी शक्ति के दर्शन कराती है जो परमाणु बम से बड़ी साबित हो सकती है और जिस पर पश्चिम को ईर्ष्या और आशा के साथ नजर रखनी चाहिए।' लंदन का अखबार **टाइम्स** लिखता है : 'श्रीगांधी का साहसिक आदर्शवाद कभी इतने स्पष्ट ढंग से पुष्ट नहीं हुआ था।' कलकत्ता के **दि स्टेट्समैन** के भूतपूर्व संपादक आर्थर मूर इतने विचलित हुए कि उन्होंने खुद सहानुभूति में एक व्रत आरंभ कर दिया।

किसी उत्तम ध्येय के लिए स्वेच्छा से पीड़ा सहने का यह दृश्य उन सभी लोगों की सहानुभूति और प्रशंसा जीते बिना नहीं रह सकता जो मानव-कल्याण और नैतिक मूल्यों के प्रति चिंतित रहते हैं। गांधी जी का विश्वास था कि उनके व्रत स्वयं का शुद्धीकरण करने और दूसरों को आत्म-मंथन में सहायता पहुंचाने के लिए होते थे। इसमें शक नहीं कि वे कुछ सीमा तक इसमें सफल रहे। उनके सहारे गांधी जी ने नैतिक प्रश्न को उसकी राजनीतिक उलझनों से निकालकर उसके लिए अपना जीवन दांव पर लगाया, और इस प्रकार अनेक उलझी हुई गांठों को खोलने में सफल रहे। उनके शब्दों में 'अगर कोई व्यक्ति शुद्ध हृदयवाला है तो उसके पास देने के लिए अपने जीवन से कीमती कुछ और हो ही नहीं सकता।' इसलिए दूसरों पर भी उनके व्रत का अच्छा-खासा असर पड़ा। इसके अलावा इस व्रत ने नैतिक प्रश्न पर जनता का ध्यान ही केंद्रित नहीं किया, उन्हें जीवंत और मर्मस्पर्शी ढंग से यह पाठ भी पढ़ाया कि दीर्घकालिक जीवन में नैतिक मूल्य कीमती से कीमती इंसानी जानों से भी अधिक कीमती होते हैं।

फिर भी हम इस तथ्य को अनदेखा नहीं कर सकते कि इस व्रत ने विभिन्न कालों में, विभिन्न लोगों में विभिन्न प्रतिक्रियाएं जगाईं। कुछ इससे अभिभूत हुए तो दूसरे लोग नैतिक उत्थान की भावना से भर उठे। कुछ को झुंझलाहट हुई तो कुछ और लोग इसके नैतिक दबाव के नीचे तड़फड़ाने लगे। वैसे सभी इसे सांस रोककर और मर्मस्पर्शी आशंका के साथ मंत्रमुग्ध होकर देख रहे थे। गांधी जी ने खुद जोर देकर कहा कि उनके व्रत बलप्रयोग के लिए नहीं होते। ऐसा उनका

विश्वास था और उनके बल विश्वास की ईमानदारी में संदेह नहीं किया जा सकता। मगर इन तमाम बातों के बावजूद क्या एक तटस्थ प्रेक्षक यह कह सकता है कि उनमें बलप्रयोग का तत्व था ही नहीं ? इस तथ्य की व्याख्या भला कैसे की जाए कि महात्माजी के अनेक व्रतों या गुरुदेव के शब्दों में उदात्त प्रायश्चितों ने अकसर उन लोगों को उलझन और झुंझलाहट का शिकार बनाया था जिनके नैतिक लाभ के लिए वे किए जाते थे ? जिन लोगों का सीधा सरोकार नहीं होता था वे उन व्रतों के उदात्त सौंदर्य को सबसे अधिक महसूस करते थे, लेकिन जिनकी आत्माओं को शुद्ध करना अभिप्राय होता था वे बेचैनी के साथ तड़फड़ाने लगते थे।

इस अंतिम और 'महानतम व्रत' ने उनके अपने हिंदू समुदाय में कुछ कम लोगों को विमुख नहीं किया जो समझते थे कि अपनी अंतरात्मा को प्रसन्न करने के लिए गांधी जी हिंदुओं के साथ अन्याय कर रहे थे। जिन लोगों से गांधी जी सबसे अधिक प्रेम करते थे और जिनके कल्याण की सबसे अधिक कामना करते थे उनके साथ सबसे कठोर व्यवहार भी करते थे, मगर इससे आलोचकों के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता था। कारण कि मानव का सच्चा कल्याण किस बात में था, इसके बारे में गांधी जी की धारणा और उनकी धारणा असमान ही नहीं, परस्पर विरोधी भी थी।

गांधी जी जिन लोगों की सबसे अधिक चिंता करते थे उनके नैतिक अनुशासन के प्रति उनके गहनतम सरोकार का यह पक्ष उस परीक्षा से सुस्पष्ट है जिससे उन्होंने एक बार अपनी पौत्री मनु को गुजारा था। यह तब की बात है जब वे नोआखाली में पैदल भटक रहे थे। यह गांधी जी का कायदा था कि किसी गांव में पहुंचने पर वे बैठने से पहले अपने पांव धोते थे। एक बार जब वे यही करने जा रहे थे कि उन्हें वह झाईं पत्थर नहीं मिला जिससे वे तलवे रगड़ा करते थे। उसे संभालकर रखने की जिम्मेदारी मनु पर थी जो उसे भूलकर एक बुनकर के झोपड़े में छोड़ आई थीं जहां यह दल रास्ते में रुका था। कर्तव्य की इस चूक का प्रायश्चित तो उन्हें करना ही होगा। गांधी जी ने उनसे कठोरता से कहा कि खोए पत्थर को लाने के लिए वे फौरन अकेले और बिना किसी साथ या सुरक्षा के वापस जाएं।

रास्ता सुनसान था और खतरे भी कुछ कम नहीं थे। मनु का दिल मुंह को आ गया मगर उन्होंने आज्ञा का पालन किया। सौभाग्य से पत्थर उन्हें मिल गया और वे सही-सलामत वापस आ गईं—मगर आंसुओं में डूबी हुईं। गांधी जी हंसे और बोले : 'मैं खतरे के बारे में तुमसे ज्यादा जानता हूं। अगर कोई बदमाश तुम्हें उठा ले जाता और तुम साहस के साथ मरना कबूल करतीं तो मेरा दिल खुशी से नाच उठता। लेकिन अगर दब्बूपन या भय के मारे तुम वापस आ जातीं या भाग खड़ी होतीं तो मैं खुद को अपमानित और दुखी महसूस करता। मैं तुम्हें रोज-ब-रोज

एकला चलो वाला गीत गाते सुनता था, तो दिल ही दिल में हैरान होता था कि क्या यह मात्र शेखी तो नहीं है। आज की घटना से तुम्हें अंदाजा हो जाना चाहिए कि जिनसे मैं सबसे अधिक प्रेम करता हूं उनकी परीक्षा लेने के लिए मैं कितना निर्मम बन सकता हूं।'

और जब कुछ ही समय बाद पटना में उसी मनु का अपेंडिसाइटिस का आपरेशन हुआ तो गांधी जी कीटाणुनाशक मास्क पहनकर आपरेशन के समय वहीं बैठे रहे और उनका प्यार भरा हाथ मनु के माथे पर रहा।

दुर्भाग्य से जो लोग ऐसे प्रेम के मूल्य को समझ सकते हैं वे उतने ही दुर्लभ हैं जितने ऐसा प्रेम देने में समर्थ लोग हैं। आम हिंदू और सिख जनता से शायद ही उम्मीद की जा सकती थी कि वह नैतिकता की इस ऊंचाई तक उठेगी और इस बात को समझेगी कि महात्मा ने तो उससे सिर्फ सभ्य और मानवीय व्यवहार की मांग की थी, न कि इससे अधिक की। जब भावनाएं भड़की हुई हों तो सही और स्पष्ट बातें भी पीलियाग्रस्त निगाहों को अनुचित और अन्यायपूर्ण लगने लगती हैं—ठीक वैसे ही जैसे किसी शराबी की उस वक्त ही हिंसक प्रतिक्रिया जब उसका कोई शुभचिंतक मित्र उसे इस घातक लत से मुक्त कराने की कोशिशें करता है। इसलिए जनता जिस बात को महात्मा की धीरज रखने की अनुचित मांग और मुसलमानों के हितों को दी जानेवाली अनुचित रियायत समझती थी, उसका विरोध करती थी। यह कुंठित विरोध व्रत के भंग किए जाने के दो दिन बाद शब्दशः फूट कर बाहर निकला।

कर्म करते हुए मृत्यु

भीड़ के साथ मिलकर प्रार्थना करना गांधी जी का पुराना कायदा था। वे कहीं भी रहें, हर शाम वे किसी खुले मैदान में प्रार्थना करते थे और कोई बड़ी या छोटी भीड़ उनके सामने रहती थी। इस अनुष्ठान का कोई रूढ़िवादी ढर्रा नहीं था बल्कि यह यदृच्छ था जिसे उन्होंने अनेक धार्मिक आस्थाओं के मिलनस्थल के रूप में विकसित किया था। उनके धर्मग्रंथों के चुने हुए पद पढ़े जाते और भजन गाए जाते। आखिर में वे जनसभा से कुछेक शब्द कहते जो आमतौर पर रेडियो या प्रेस के द्वारा पूरे राष्ट्र तक पहुंच जाते थे। वे किसी निश्चित धार्मिक विषय पर नहीं बल्कि किसी भी ऐसे प्रश्न पर बोलते थे जो सामयिक महत्व का होता था। विषय चाहे जो हो, वे उसे अपने खास ढंग से एक नैतिक और आध्यात्मिक स्तर तक उठा देते थे। फलस्वरूप अगर उसका सरोकार किसी राजनीतिक प्रश्न से होता तो भी लगता कि कोई धर्मपुरुष सत्य-निष्ठा का उपदेश दे रहा हो।

सभा में हर कोई शामिल हो सकता था। कोई रोकटोक न थी और न कोई पूछताछ की जाती थी। सबके सामने एक ऊंचे चबूतरे पर बैठे गांधी जी आसानी से निशाना बन सकते थे। अभी तक उन्होंने सिर्फ भीड़ की अपार श्रद्धा से सुरक्षा चाही थी जो उनके पैर छूने आगे बढ़ती आती थी कि यह आदर दिखाने का हिंदू तरीका है। लेकिन अब बेढब समय आ गया था। हिंसक भावनाएं भड़की हुई थीं और हवा में नफरत की बू बसी थी। पाकिस्तान में मुस्लिम कट्टरता ने भारत में भी ऐसी ही कट्टरता को जन्म दिया था, और इस प्रतिक्रिया का जुझारू दस्ता इस्लाम के नाम पर हिंदुओं और सिखों पर हुए अत्याचारों का बदला लेने की राह में गांधी जी को प्रमुख बाधा समझता था।

पाकिस्तान की तरह यहां भी 'धर्म खतरे में है' का नारा बर्बरता के दानव को आदर्शवाद का जामा पहनाता था। गांधी जी को चेतावनी दी गई थी और सुरक्षा पुलिस परेशान थी। लेकिन उन्होंने किसी प्रकार का हथियारबंद संरक्षण लेने से मना कर दिया। वे प्रेम की शक्ति को छोड़ किसी और ढंग से जीने को तैयार नहीं थे। चालीस साल पहले जब जोहान्सबर्ग में एक क्रुद्ध पठान ने उनको मारने की धमकी दी थी तब उन्होंने शांतिपूर्वक कहा था : 'बीमारी से या किसी और ढंग से मरने

की अपेक्षा एक भाई के हाथों मरना मेरे लिए दुख का कारण नहीं हो सकता। और अगर इस हालत में भी मैं अपने हमलावर के खिलाफ क्रोध या घृणा के विचारों से मुक्त रहा तो मैं जानता हूं कि वह मेरे शाश्वत कल्याण का कारण होगा।'

उन्हें इस 'शाश्वत कल्याण' का वरदान देने से दस दिन पहले, 20 जनवरी को भाग्य ने उनकी एक और परीक्षा ली। वे जनसभा को रोजाना की तरह प्रार्थना के बाद संबोधित कर रहे थे कि जहां वे बैठे थे उससे कुछ गज दूरी पर एक बम आकर फटा। गांधी जी ने बिना कुछ ध्यान दिए अपना प्रवचन जारी रखा। बम फेंकनेवाला युवक पकड़ा गया और उसने फौरन स्वीकार कर लिया कि उसका मकसद गांधी जी को मारना था। बाद में जब लेडी माउंटबेटन ने गांधी जी को 'सलामत बच जाने' पर और विस्फोट के समय उनकी शौर्यपूर्ण निःसंगता पर बधाई दी, तो उन्होंने बताया कि वे साहस के लिए किसी प्रशंसा के अधिकारी नहीं हैं क्योंकि उन्होंने समझा था कि वह शोर सेना की रोजमर्रा की चांदमारी के कारण हुआ था। उन्होंने आगे कहा : 'अगर कोई मुझे करीब से गोली मारे और मैं मुस्कुराकर हृदय में ईश्वर का नाम जपते हुए गोली का सामना करूं तो मैं सचमुच बधाई का पात्र कहा जाऊंगा।'

वे हमेशा सलीब से प्रेम करते आए थे और सूली पर चढ़ने के इस प्रतीक से, अपने दोषी साथियों के पापों के प्रायश्चितस्वरूप हंसकर कष्ट उठाने के इस प्रतीक से हमेशा रोमांचित होते रहे थे। लगता था, शहादत की एक दिली इच्छा, एक अचेतन आकांक्षा जिसे वे कभी कभी सचेत इच्छा के रूप में व्यक्त करते थे, हमेशा उनकी कल्पना में मौजूद रहती थी जिसे बम के धमाके ने और प्रखर और स्पष्ट बनाया। उनकी पौत्री मनु रात में उनके सोने से पहले, बैठकर उनके सिर या पैरों की मालिश करती थीं और गांधी जी उनके सामने अपने विचार खुलकर व्यक्त कर देते थे। उनकी सूचना के मुताबिक धमाके के बाद के दस दिनों में अनेक बार उन्होंने 'हत्यारे की गोलियों' या 'गोलियों की बौछार' की बातें कही थीं—अशुभ के पूर्वाभास के रूप में नहीं बल्कि एक संघर्षरत जीवन के शोभायमान चरमोत्कर्ष की इच्छा के रूप में।

29 जनवरी को यानी धरती पर अपनी आखिरी रात में उन्होंने मनु से कहा था : 'अगर मैं बीमारी से मरूं, भले ही वह फुंसी ही क्यों न हो, तो तुम दुनिया से चिल्ला-चिल्लाकर कहना कि मैं एक झूठा महात्मा था, भले ही लोग तुम्हें ऐसा कहने पर बुरा-भला कहें। तब मेरी आत्मा कहीं भी रहे, शांति से रहेगी। दूसरी ओर, अगर कोई मुझे गोली मार दे, जैसे कि उस दिन किसी ने मुझ पर बम फेंकने की कोशिश की थी, और मैंने अगर उस गोली को बिना कराहे और राम का नाम होठों पर रखकर झेला, सिर्फ तभी तुम कहना कि मैं एक सच्चा महात्मा था। इससे भारतीय जनता का कल्याण ही होगा।'

इसे भविष्यवाणी न माना जाए, इसके लिए हमें याद रखना होगा कि गांधी जी ने आनेवाली घटनाओं के बारे में पैगंबरों जैसे पूर्वज्ञान का कभी दावा नहीं किया। वास्तव में उन्होंने तीन दिन बाद वर्धा आश्रम के लिए चल पड़ने का एक तदर्थ कार्यक्रम भी बनाया था। वे वहां से पाकिस्तान जाना चाहते थे और उन्हें जिन्ना की मुस्लिम लीग सरकार को यह विश्वास दिला सकने की आशा थी कि जिन्ना के और उनके देश का कल्याण आपसी सदिच्छा और विश्वास में निहित था। उन्हें यह भी पता था कि पाकिस्तान में उनकी मौजूदगी वहां बाकी बचे हिंदुओं को दिलासा देगी।

उन्हें यह सब कुछ कर सकने की आशा थी, मगर अब पुराने दिनों जैसा विश्वास नहीं रह गया था जब उनकी यात्रा की एक एक मद की रूपरेखा पहले से ही सावधानी से तैयार की जाती थी। वे अपने कार्यक्रम के बारे में एक एक बात पर ध्यान देते थे और अपने सभी कामों में सावधानी और सटीकता बरतते थे, मगर इस बार वे सब कुछ को अस्पष्ट और अनिश्चित छोड़कर ही संतुष्ट थे गोया अपने को पूरी तरह ईश्वर के भरोसे छोड़कर उन्हें चिंता ही न हो कि आगे क्या होगा। जब मनु ने सुझाया कि उनके तीन दिन बाद पहुंचने की खबर वर्धा भेज दी जाए तो उन्होंने ऐसा नहीं करने दिया और बोले : 'कौन जानता है, कल क्या होनेवाला है ?'

वे दुखी और निराश थे कि आजादी मिलने के कुछ ही दिनों के अंदर जनता की मनोस्थिति में बुनियादी तौर पर बिगाड़ आया था तथा संघर्ष और बलिदान के बहादुरों के आदर्श की जगह सत्ता और आराम तलब जीवन की भूख ने ले ली थी; कि आत्मसंयम और करुणा सिखानेवाले धर्म का प्रयोग बेरोक नफरत और हिंसा फैलाने के लिए बहाने के तौर पर किया जा रहा था। वे कविता पढ़ने के कोई खास शौकीन नहीं थे तथा भजन और नीति के पद उनके लिए काफी होते थे, लेकिन उस रोज वे एकाएक उर्दू के प्रसिद्ध जनकवि नजीर अकबराबादी का शेर पढ़ने लगे (अकबराबाद आगरा का दूसरा नाम है) जो उनसे पहले हो गुजरे उमर खय्याम की याद दिलाता था :

है बहारे-बाग़े-दुनिया चंद रोज़।
देख ले इसका तमाशा चंद रोज़।।

हमेशा की तरह 30 जनवरी का दिन भी साढ़े तीन बजे सुबह की प्रार्थना के साथ आरंभ हुआ। उन्होंने मनु से एक भजन गाने को कहा जिसे उन्होंने पहले कभी गाने के लिए नहीं कहा था :

ऐ मनुष्य, तू थका हो या नहीं, आराम मत कर !

न ही उन्होंने खुद आराम किया, भले ही दिल में वे कितने ही निढाल और उदास रहे हों। दूसरे दिनों की तरह वह दिन भी मुलाकातों और पत्राचार के बोझ से लदा

हुआ था। वे उस मसविदे को पूरा करने के प्रति चिंतित थे जिसे उनके जीवनी-लेखकों ने उनकी अंतिम इच्छा या वसीयत कहा है, और इसे उन्होंने पूरा किया। वास्तव में यह कांग्रेस की भावी रूपरेखा के बारे में उनकी प्रस्तावित योजना थी और वे चाहते थे कि कांग्रेस के नेता इस पर विचार करें।

कांग्रेस को वर्तमान रूप देने में उन्होंने किसी भी अन्य व्यक्ति से अधिक योगदान दिया था, और कांग्रेस जिन विविध हितों से मिलकर बनी थी उनको समन्वित करके उन्होंने ही उसे भारत की स्वाधीनता पाने के लिए एक शक्तिशाली साधन बनाया था। अब वे महसूस करते थे कि अपना उद्देश्य पा लेने के बाद कांग्रेस अपनी उपयोगिता खो चुकी थी और उसे खुद को भंग कर लेना चाहिए। भारत के नगरों और कस्बों से भिन्न, उसके कई लाख गांवों की सामाजिक, नैतिक और आर्थिक स्वाधीनता उनका आदर्श थी, और जो कांग्रेसी उनके इस आदर्श में विश्वास रखते हों वे मिलकर एक लोक सेवक संघ बनाएं तथा पद और सत्ता की छीनाझपटी छोड़कर स्वेच्छा से गांवों के करोड़ों भूखों, बेसहारों की सेवा करें।

उनकी आखिरी मुलाकात सरदार पटेल के साथ थी। पटेल और नेहरू के बीच टकराव की अफवाहें फैली हुई थीं, और यह सुझाव आया कि इनमें से कोई एक, दूसरे को पूरी आजादी देने के लिए मंत्रिमंडल छोड़ दे। गांधी जी सरदार पटेल को यह बात समझाना चाहते थे कि देश को उनकी और नेहरू, दोनों की जरूरत थी। (गांधी जी को नेहरू से प्रार्थना-सभा के बाद मिलना था।) जब वे बातें कर रहे थे, मनु ने गांधी जी को सूचना दी कि काठियावाड़ के दो नेता उनसे मिलने के लिए इंतजार कर रहे थे। गांधी जी ने जवाब दिया : 'उनसे कहो कि अगर मैं जिंदा रहा तो प्रार्थना के बाद मेरे साथ चलते हुए बातें कर सकते हैं।'

प्रार्थना के लिए देर हो रही थी और अनियमितता से नफरत करनेवाले गांधी जी तेजी से बाहर लान की ओर बढ़े जहां जनता पहले से बैठी हुई थी। उनके हाथ उनकी दोनों पौत्रियों (या और भी सही ढंग से कहें तो भाई की पौत्रियों) मनु और आभा के कंधों पर थे और वे कहा करते थे कि ये ही उनकी बैसाखियां थीं। कुछेक सीढ़ियां चढ़ने के बाद वे रुके, उनके कंधों से हाथ उठाया और भीड़ के नमस्कार को स्वीकार करने के लिए हाथ जोड़ दिए। एक गठे बदन का युवक धक्का देते हुए आगे बढ़ा, और जब मनु ने उसे रोकने की कोशिश की तो उन्हें झटक दिया। फिर वह गोया आदर देने के लिए गांधी जी के आगे झुका और करीब से गांधी जी के सीने में तीन गोलियां उतार दीं। दो गालियां तो सीधे निकल गईं और तीसरी दाहिने फेफड़े में फंसी पाई गई। गांधी जी धरती पर गिर पड़े। उनके मुंह से केवल राम का नाम निकला जो ईश्वर के लिए उनका पसंदीदा नाम था। भीड़ समझ सके कि हुआ क्या था, इससे पहले ही वे स्वर्गवासी हो गए।

वे वैसे ही मरे जैसे मरने की कामना उन्होंने हमेशा की थी—बिना किसी

कराह-पुकार के, होंठों पर ईश्वर का नाम लिए हुए। उन्होंने कुछ करने, नहीं तो मरने का संकल्प ले रखा था। लेकिन उन्होंने कर्म भी किया और मृत्यु को भी प्राप्त हुए। ईश्वर ने उनकी प्रार्थना सुन ली थी और उनकी इच्छा को पूरा किया था।

ऐसे शरीरांत को दुखद कहने का अधिकार भला किसे है ?

अनुक्रमणिका